खण्ड 3 निष्काम कर्मयोग

इकाई 10 पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा 176

इकाई 11 निष्काम कर्मयोग का अभिप्राय और फल 176

इकाई 12 गीता में कर्मयोग की प्रशंसा 199

इकाई 13 भारतीय संस्कृति में निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा के उद्धरण 211

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ईकाई 10 पुरुषार्थ चतुष्ट्य की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.1.1 पुरुषार्थ चतुष्ट्य का परिचय

10.1.1.1 धर्म

10.1.1.2 अर्थ

10.1.1.3 काम

10.1.1.4 मोक्ष

10.2 सारांश

10.3 शब्दावली

10.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.5 बोधप्रश्न

10.6 अभ्यास प्रश्न

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- पुरुषार्थ चतुष्ट्य का परिचय प्राप्त कर लेगें।
- भारतीय संस्कृति किस प्रकार से अध्यात्मप्रधान है, यह समझ लेगें।
- निष्काम कर्म मोक्ष का द्वार है, यह समझ लेंगे।
- आत्मप्रबन्धन के सन्दर्भ में पुरुषार्थ चतुष्ट्य की भूमिका समझ लेगें।
- यह भी समझने में सहायता मिलेगी कि आत्मकेन्द्रित सिद्धान्त होते हुए भी पुरुषार्थ चतुष्ट्य समष्टि रूप से समाज, राष्ट्र की समृद्धि तथा शान्ति का पोषक है।

10.1 प्रस्तावना

पुरुषार्थ चतुष्ट्य नामक सिद्धान्त विशुद्ध भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति की आधारशिला है। यह सिद्धान्त अन्तर्दृष्टि रखने वाले प्राचीन भारतीय ऋषियों के अथक तथा निरन्तर प्रयास का परिणाम है। भारतीय जीवनशैली एवं जीवनदर्शन को अध्यात्मपरक बनाने में इस सिद्धान्त का अतुलनीय योगदान है। अतः यह सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के परिचयात्मक वैशिष्ट्यों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्तर्द्रष्टा ऋषिगण, धर्मशास्त्रकारों तथा दार्शनिकों के द्वारा मनुष्यों की प्रवृत्ति एवं स्वभाव को ध्यान रखते हुए पुरुषार्थ की संकल्पना की गयी है, जिसका प्रधान लक्ष्य है–परमार्थ की प्राप्ति एवं मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में संतुलन बनाना। पुरुषार्थ शब्द दो शब्दों से बना है– पुरुष एवम् अर्थ। प्रस्तुत सन्दर्भ में पुरुष का अर्थ है– विवेकशील प्राणी (मनुष्य) तथा अर्थ का तात्पर्य है– लक्ष्य। इस प्रकार विवेकशील प्राणी के लक्ष्य

को पुरुषार्थ कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, पुरुषार्थ के अन्तर्गत मनुष्यजीवन के लक्ष्य तथा उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन पर विचार होता है। अतः मानव जीवन के मुख्य लक्ष्य अथवा उद्देश्य या फल की प्राप्ति करने हेतु पुरुष प्रवृत्त होता है, यही पुरुषार्थ है। भारतीय मनीषियों ने मनुष्य जीवन के मुख्यतः चार लक्ष्य निर्धारित किये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। प्रथम तीन अभ्युदय के साधन हैं तथा अन्तिम मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस् का साधन है। सब ओर से उन्नति होना अभ्युदय का स्वरूप है। इसीप्रकार जिससे बढकर कोई भी श्रेष्ठतम फल न हो, उसकी प्राप्ति को निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

10.1.1 पुरुषार्थ चतुष्ट्य का परिचय

मानवजीवन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये चार प्रकार के पुरुषार्थों की कल्पना की गयी है जिनका परिगणन अग्निपुराण 35 में इसप्रकार में किया गया है–

"धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः।"

पुरुषार्थ के चार स्वरूपघटक तत्त्वों में से काम और अर्थ साक्षात् प्रवृत्ति मार्ग का सूचक है। मोक्ष निवृत्ति या श्रेयमार्ग का सूचक हैं। धर्म का ग्रहण काम और अर्थ के साथ किया जाता है। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके साथ, मोक्ष के सन्दर्भ में भी धर्म एक परिहार्य अंग है। इस विषय पर चर्चा आगे की जायेगी। यहाँ यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि धर्म, काम, अर्थ तथा मोक्ष के मध्य में सामंजस्य स्थापित करता है। समुदित रूप से इन तीनों का उद्देश्य सामान्य मनुष्य के जीवन को सुव्यवस्थित करना तथा समाज को सुस्थिर करना है तथा मोक्ष का उद्देश्य व्यक्तिविशेष का आध्यात्मिक विकास करना है। ये चारों ही समाहार रूप से पुरुषार्थ चतुष्ट्य एवं चतुर्वर्ग के नाम से भारतीय ज्ञान परम्परा में स्वीकृत हैं।

भारतीय मनीषियों के अनुसार, शरीर तथा आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर भौतिक है तथा आत्मा आध्यात्मिक है। धर्म, अर्थ, काम–मनुष्य के भौतिक सुखों के साधन हैं। ये तीनों एक–दूसरे के पूरक हैं। शरीर में रहने के कारण जीवात्मा काम अर्थात् सुखोपभोग को जीवन का प्रथम लक्ष्य मानता है। सुखोपभोग के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है। यह अर्थप्राप्ति सदैव धर्मपूर्वक होना चाहिये। इस प्रकार धर्म से युक्त अर्थ एवं धर्म से युक्त काम– इसरूप में धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पारस्परिक रुप से सम्बद्ध हैं। महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, 5.62 में भी कहा गया है कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति करो–**"धर्मादर्यश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।"** अतः प्रथम तीन वर्ग मनुष्य के भौतिक सुख के साधन हैं। इनसे प्राप्त होने वाला सुख पूर्ण सन्तुष्टि तथा परम आनन्द का साधन नहीं है। अपितु इन तीनों से प्राप्त होने वाला सुख और भोग शाश्वत न होकर क्षय होने वाले हैं। एकमात्र मोक्ष ही है, जिससे प्राप्त होने वाले सुख नित्य होता है। इसकी प्राप्ति होने पर दुख तथा असन्तुष्टि का सदैव के लिये नाश हो जाता है। अतः मोक्ष नामक अन्तिम पुरुषार्थ को परमपुरुषार्थ माना गया है। ज्ञातव्य है कि वर्गचतुष्ट्य का महत्त्व तभी है, जब मनुष्य इनका पालन एकांगी रुप में न करके सर्वांगीण रुप में करे। अतः ये समुदित रुप से चतुर्वर्ग के रुप में प्रसिद्ध है, पृथक–पृथक रूप में इन चारों की महत्ता नहीं है। वर्गचतुष्टय प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के मध्य में समन्वय स्थापित करने का माध्यम है। इस प्रकार, धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम का सेवन करने वाला निष्काम कर्मयोगी अथवा अध्यात्म ज्ञान से सम्पन्न महात्मा ही इसका अधिकारी बन सकता है। इन चतुर्वर्गों के द्वारा लोक–परलोक, ज्ञान–कर्म, सम्भूति–असम्भूति, भौतिकता–आध्यात्मिकता में समन्वय

स्थापित होता है। अमरकोश, 2.7.57–58 में त्रिवर्ग और चतुर्वर्ग की समृद्धि को चतुर्भद्र कहते हैं–

त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः।
सबलैस्तैश्चतुर्भद्रम्।।

काव्य के क्षेत्र में भी चतुर्वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय काव्यपरम्परा का पुरुषार्थ चतुष्ट्य से साक्षात् सम्बन्ध है। भारतीय काव्य परम्परा में काव्य का प्रयोजन मात्र काव्यानन्द प्राप्त करना नहीं है। इस तथ्य को समझने के लिये आचार्य भामह की स्वरचित ग्रन्थ काव्यालंकार, 1.2 की पंक्ति महत्त्वपूर्ण है–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च,
करोति कीर्तिं प्रीति च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

कुन्तक ने भी वक्रोक्तिजीवितम् में कहा है कि काव्य अभिजात कुलोत्पुत्र के लिये धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्राप्त करने का सहज उपाय है। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने काव्य को पुरुषार्थ चतुष्ट्य का साधन माना है। इनके अतिरिक्त कुन्तक, वामन तथा अभिनवगुप्त ने पुरुषार्थचतुष्ट्य को किसी न किसी रूप से काव्य रचना का प्रयोजन माना है। इसप्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा, काव्य, संस्कृति तथा धर्म में पुरुषार्थ चतुष्ट्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः वर्गचतुष्ट्य के प्रत्येक बिन्दु पर अलग–अलग विचार करना आवश्यक है, जो इसप्रकार है–

10.1.1.1 धर्म

संस्कृत के धृ धारणे धातु से मन् प्रत्यय लगाने पर धर्म शब्द की पुल्लिङ्ग अर्थ में निष्पत्ति होती है। धर्म का अर्थ होता है– धारण करना। अतः जिसे धारण किया जाये वह धर्म है। वामन शिवराम आप्टे के द्वारा रचित संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, पृ.सं. 489 के अनुसार धर्म का स्वरूप है–**ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा।** अतः धर्म ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने के योग्य बनाता है। स्पष्ट है कि धर्म यहाँ साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं है, अपितु धर्म का अर्थ उन गुणों को धारण करना है जिनसे मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है। वैशेषिक सूत्र, 1.1.1 में कथित धर्म का लक्षण इस अर्थ की पुष्टि करता है–

यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

पुनः ध्यातव्य है कि अभ्युदय का तात्पर्य है, अभितः उदयः अर्थात् सब तरह से आगे बढना उन्नति को प्राप्त करना। निःश्रेयस् का तात्पर्य है कि निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम् अर्थात् निश्चित फल, जो कभी क्षीण नहीं होता, ऐसे परम आनन्द की प्राप्ति। महर्षि याज्ञवल्क्य सम्यक् संकल्प से उत्पन्न काम को भी धर्म मानते हैं। धर्मशास्त्र के अनुसार, वेद, स्मृतियाँ, सज्जनों का आचरण तथा मनस्तुष्टि धर्म का स्रोत हैं।

महाभारत के कर्ण पर्व, 69.59 में श्रीकृष्ण धर्म को परिभाषित करते हैं–

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्माद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।

इसका तात्पर्य है कि धर्म से ही सारी सृष्टि बंधी है। अतः जिससे सब प्रजा का धारण होता है, वही धर्म है। यदि धर्म छूट जाये, तो समाज के सारे बन्धन भी छूट जाते हैं।

ऋग्वेद में इसे ऋत कहते हैं। ऋत के रूप में यह सम्पूर्ण जगत् पर शासन करता है और शासक के बिना शासन में अराजकता आ जाती है। अतः धर्म सृष्टि के संतुलन के लिये अनिवार्य तत्त्व है। चाणक्य के वचन, **"धर्मेण धार्यते लोकः"** भी इसी अर्थ का समर्थन करते हैं। धर्म की महत्ता का आकलन श्रीकृष्ण के गीता, 4.7–8 के इस कथन से किया जा सकता है कि आवश्यकता पड़ने पर धर्म के संस्थापनार्थ वह पृथ्वी पर पुनः–पुनः अवतरित होंगे –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

महाभारत, शान्तिपर्व, 91.53 में त्रिवर्गों में से धर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि एक धर्मात्मा ही अर्थ और काम पर नियन्त्रण करने में समर्थ होता है–

धर्मे चार्थे च कामे च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिन् लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते।।

महाभारत के शान्तिपर्व, 294.29 के अनुसार धर्म मनुष्यमात्र का ही विशिष्ट गुण कहा गया है, अन्य जीवधारियों का नहीं। इस सन्दर्भ में यह पंक्ति उचित ही है–

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो ही तेषामधिको विशेषोधर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन– ये सारे गुण मनुष्यों एवं पशुओं के लिए एक समान रुप से स्वाभाविक हैं। किन्तु मनुष्यो में पशुओं की अपेक्षा एक विशेष गुण और विराजमान है, वह है धर्म। दुर्भाग्य से पशु इस धर्म से हीन हैं। मनुष्य की आहार आदि स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादित करने का कार्य धर्म करता है। जिस मनुष्य में यह धर्म नहीं है, वह पशुवत् है। अतः धर्म का मानवजीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के अतिरिक्त यह विशेषता किसी भी अन्य जीव में नहीं है। महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, 5.63 मे कहा गया है कि काम, क्रोध तथा लोभ के भय से अथवा जीवन के भय से भी धर्म का परित्याग करना उचित नही है, अतएव धर्म प्रत्येक स्थिति में पालनीय है–

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मंत्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मोनित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।

मनु का भी मन्तव्य ऐसा ही है। मनुस्मृति, 4.176 में वह अपना विचार इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि मनुष्य को ऐसे अर्थ और काम का परित्याग कर देना चाहिये, जो धर्म के विपरीत हो –

"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।"

इन्होंने मनुस्मृति, 2.6 में वेदों को धर्म का मूल माना है–

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

इसी अध्याय के बारहवें श्लोक की पंक्तियों में वह कहते हैं कि वेद, स्मृति, सदाचार एवं मन की प्रसन्नता भी धर्म का मूल है–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

आचार्य शुक्र ने शुक्रनीति 4.9–10 में धर्म के भेद बतलाये हैं जो इसप्रकार है–

देश–धर्माः जाति–धर्माः कुलधर्माः सनातनाः।
मुनिप्रोक्ताश्च ये धर्माः प्राचीनाः नूतनाश्च।
ते राष्ट्रगुप्त्यै संधार्या ज्ञात्वा यत्नेन सन्नृपैः।।
धर्म–संस्थापनाद् राजा श्रियं कीर्त्तिं च विन्दति।।

अतः देशधर्म, जातिधर्म, सनातन धर्म, प्राचीनधर्म और नवीन धर्म– ये धर्म के भेद हैं।

भागवतपुराण, 7.15.12 के अनुसार, धर्माचरण के लिये पाँचप्रकार के धर्माभासों से सावधान रहने की आवश्यकता है। ये पांच धर्माभास इसप्रकार हैं– विधर्म, परधर्म, आभास, उपधर्म तथा छल।

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखा पंचमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेत्।।

धर्माभास और अधर्म एक समान हैं। अधर्म तथा धर्माभास ये दोनों अवनति का कारण बनते हैं, जिसकी परिणति अन्ततः दुखरूप में होती है।

इसप्रकार हम देख सकते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय ज्ञानपरम्परा में धर्म शब्द के विविध अर्थ तथा उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। प्रायः नीति, कर्तव्य, आचरण, कर्म ये शब्द धर्म के समानार्थी हैं। ऋग्वेद में धार्मिक विधियों, धार्मिक क्रियाओं तथा संस्कारों के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग होता है। कहीं–कहीं प्रसंगानुसार धर्म शब्द का प्रयोग निश्चित नियम या आचरण–नियम के अर्थ में भी होता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि ऋत, सत्य, तप, पुरुषार्थ, धर्म और कर्म ये सभी शक्तियाँ किसी भी राष्ट्र के विकास के लिये आवश्यक है। धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, विद्या, सत्य आदि कुछ ऐसे धर्म हैं, जिनका पालन सभी के लिये वांछनीय हैं। लिङ्ग, वर्ण, आश्रम, जाति आदि के आधार पर भी धर्म की व्याख्याएँ की जाती हैं। धर्मशास्त्रों में वर्णाश्रम धर्मों की चर्चा की गई है, जिनका पालन करने से व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है। धर्म का प्रयोग उन सब नीति नियमों के लिये किया जाता है, जो समाज–धारण के लिये शिष्टजनों द्वारा अध्यात्म–दृष्टि से बनाए गये हैं। धर्म उन आचरणों का समुदाय है, जिनके पालन से समाज सुसंगठित रहता है। व्यक्ति को अपने–आपको कुछ नियमों से आबद्ध करना पडता है, जिससे दूसरों को कष्ट न हो सके। ऐसे ही नियमों को धर्म की संज्ञा दी गई है। धर्म वह है जिसके पालन करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहता है, उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। धर्म की एक अन्य विशेषता भी है कि यह प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग दोनों के मध्य सेतु का कार्य करता है। यह काम और अर्थ की तुलना में मोक्ष के निकटतर है। यह मोक्ष का द्वार है, किन्तु मोक्ष के समान यह मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं है, अपितु यह अर्थ और काम के प्रति

व्यक्ति को नियन्त्रित एवं अनुशासित बने रहने के लिये प्रेरणा देता है। एक अनुशासित व्यक्ति ही मोक्ष प्राप्ति के लिये तत्पर हो सकता है। यह मुख्यतः अभ्युदयप्राप्ति का साधन है, जो सांसारिक सुख देता है। अतः जिसप्रकार विषयों के भोगोंसे उत्पन्न सुख क्षणिक एवं अन्त में दुखदायी हो जाता है, उसीप्रकार धर्म से प्राप्त स्वर्गादि सुख भी पुण्य का क्षय हो जाने पर समाप्त हो जाता है, व्यक्ति का जीवन पुनः दुखदायी हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता, 9.21 में यह कहा गया है कि कर्मों से उत्पन्न पुण्य के क्षीण हो जाने पर पुनः मनुष्य को अन्य प्राणियों के समान पुनः जन्म लेना पडता है– **क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति।** स्पष्ट है कि धर्म से दुखों की न तो आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव हो पाती है, न ही वह जन्म–मरण के चक्र से छूट पाता है। यही कारण है कि धर्म को परमपुरुषार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

10.1.1.2 अर्थ

अर्थ शब्द का अभिप्राय है– अभिलषित वस्तु। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा द्रव्यों का अर्जन कर ऐहिक उन्नति करना– अर्थ का तात्पर्य है। अतः अर्थ सभी को अभिप्रेत है। अर्थ, द्रव्य तथा धन पर्यायवाची हैं। इसके द्वारा मनुष्य के इस लोक और परलोक के समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं। व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक स्तर पर अर्थ के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए व्यक्ति जीवनयापन करता है। अर्थ वह वस्तु है, जिसपर मनुष्य की जीविका चलती है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में अर्थ के स्वरूप में भी वैविध्य है। यह भौतिक सुख–साधन की प्राप्ति का मूलभूत स्रोत है। चाणक्य ने अर्थशास्त्र 15.1 में भूमि को सर्वश्रेष्ठ अर्थ माना है–

मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।

चाणक्य ने **4.83** नामक स्वरचित ग्रन्थ में अन्न को भी अर्थ कहा गया है–

नहि धान्य समो ह्यर्थः।

अन्न को अर्थ कहने का कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि भूमि में उत्पन्न होने वाले अन्न से ही समस्त प्राणी जीवन धारण करते हैं। अतः यह जीवन धारण करने के लिये अपरिहार्य वस्तु है। वात्स्यायन के अनुसार, भूमि, विद्या, स्वर्ण, पशु, रुपया, अनाज, लकड़ी आदि दैनिक उपयोग में आने वाले पदार्थ तथा मित्रादि को अर्थ कहा गया है। अतः इनका उपार्जन आवश्यक है। स्पष्ट है कि जीवन के सुखपूर्वक संचालन के लिये केवल द्रव्य रूप में उपलब्ध वस्तुएं ही नहीं, अपितु मित्रादि का भी समान महत्त्व है। अतः वह भी अर्थ की श्रेणी में आते हैं। स्पष्ट है कि अर्थ का स्वरूप भारतीय ज्ञानपरम्परा में बहुस्तरीय है। जीवन जीने के लिये आवश्यक प्रत्येक वस्तु इस दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है।

अर्थ का उद्देश्य केवल व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं तथा समृद्धि की पूर्ति करना ही नहीं है, अपितु समाज कल्याण तथा धार्मिक कृत्यों के लिये भी अर्थ की महत्ता समान रूप से है। त्रिवर्ग में अर्थ, धर्म तथा काम के मध्य में आता है। न्याय से इसका महत्त्व दोनों में समान है क्योंकि यह दोनों से समान रूप से सम्बद्ध है। किन्तु फिर भी अर्थ का वास्तविक फल धर्म है, काम उसका गौण फल है। अर्थ, धर्म तथा काम को परिपुष्ट करता है। बिना अर्थ के न तो काम की प्राप्ति सम्भव है और न ही धर्म की सिद्धि सम्भव है। अतः इस दृष्टि से अर्थ इनदोनों का प्राणतत्त्व है। अर्थ मनुष्य का बाह्य प्राण स्वीकार किया जाता है। चाणक्य अर्थशास्त्र, 1.89–90 में कहते हैं कि अर्थ पर धर्म तथा काम निर्भर हैं–**वृत्तिमूलमर्थः, अर्थमूलौ धर्मकामौ।**

अर्थ की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए चाणक्य चाणक्यसूत्र, 4.22 में कहते हैं कि अर्थवान् तथा निर्धन व्यक्ति के प्रति लोकव्यवहार में भी अन्तर होता है। अर्थवान् व्यक्ति की लोक में सर्वसम्मति होती है, उसकी प्रत्येक बात पर जनसमूह की सहमति होती है, जबकि अर्थहीन व्यक्ति का कथन महत्ता से रहित माना जाता है–

अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुसम्मतः।

अतः चाणक्य का चाणक्यसूत्र, 4.59 में यह निष्कर्ष यह है कि निर्धन व्यक्ति के हितकारी वचन को भी कोई ग्रहण नहीं करता है–

हितमप्यधनस्य वाक्यं न गृह्यते।

शुक्रनीति, 1.79 के अनुसार, थोड़े धनोपार्जन से सन्तुष्ट होने वाले व्यक्ति का उत्थान ईश्वर भी नहीं कर सकता तथा धनार्जन न करने वाले कुबेर की निधि भी समाप्त हो जाती है–

न यथेष्टव्ययायालं संचिते तु धनं भवेत्।
सदागमाद्विना कस्य कुबेरस्यापि नांजसा।।

भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ में नीतिशतक, 5 में अर्थ की महत्ता स्थापित करते हुए कहा है कि धनी व्यक्ति ही कुलीन, ज्ञानी, पण्डित, गुणी, वक्ता तथा सुन्दर माना जाता है। इसीलिये अर्थ जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की प्राप्ति को जीवन का ध्येय भी माना गया है। अतः उन्होंने कहा है–**धनात् धर्मः ततः सुखम्।** अर्थात् धन से धर्म और धर्म से सुख मिलता है।

अतः जागतिक व्यवहार में अर्थ का बहुत महत्त्व है। मनुष्य की सारी क्रियाएँ अर्थमूलक होती हैं। मनुस्मृति 10.116 में अर्थोपार्जन के दस साधन बताये गये हैं– विद्या, शिल्प, नौकरी, सेवा, पशुपालन, व्यापार, कृषि, सन्तोष, भिक्षा और ब्याज।

महाभारत, शान्तिपर्व, 124.69 में श्री अर्थात् लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये शिष्टाचारी बनने का उपदेश दिया है–

यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भव पुत्रक।
शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशय।
न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्।।

शुक्रनीति, 5.11 कहती है कि पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ पुरुष का दास नहीं है –

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
अतोऽर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः।।

अतः निष्कर्ष यह है कि अर्थ भौतिक उन्नति का साक्षात् साधन है। धार्मिक उन्नति में परम्परया यह साधन है। ज्ञातव्य है कि अर्थ की महत्ता की सीमा वहीं तक है, जहाँ तक उससे धर्म की सिद्धि होती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि धनार्जन से किसी भी मनुष्य की नैतिक अवनति नही होनी चाहिए। अतः धनोपार्जन का प्रयोजन धर्म नामक पुरुषार्थ की सिद्धि है, न कि भोग एवं ऐश्वर्य।

इस प्रकार, भारतीय दृष्टिकोण से अर्थ सुख प्राप्ति तथा जीवनयापन का साधन है, साध्य अथवा लक्ष्य नहीं है।

10.1.1.3 काम

"काम्यते इति कामः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार, विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली इच्छा ही काम है। दूसरे शब्दों में, सुख–भोग रूपी आनन्द का अनुभव करना काम है। संसार के विषयों को भोगने की इच्छापूर्ति का दूसरा नाम काम है। इन्द्रियों और मन के साथ सम्पर्क स्थापित करके उनके द्वारा आनन्द का अनुभव होता है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में कहा है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की अपने मन के संकल्प के अनुसार अपने अपने विषयों के प्रति सुखानुभूति के कारण जो प्रवृत्ति होती है, उसे काम कहते हैं। इन्होंने काम शब्द का द्विविध अर्थ बताया है– विस्तृत अर्थ तथा संकुचित अर्थ। विस्तृत अर्थ में काम शब्द का प्रयोग हमारी सारी इन्द्रियों से प्राप्त सुख के लिये होता है। संकुचित अर्थ में काम शब्द का प्रयोग यौन–सुख के अर्थ में है। महाभारत, वनपर्व, 33.3 में कहा गया है कि पुष्पमाला, चन्दन, वनिता आदि प्रिय पदार्थों के स्पर्श एवं सुवर्ण आदि का संयोग होने से मन में जो एक विशेष प्रकार की प्रीति उत्पन्न होती है, वह चित्त का एक प्रकार का विशेष प्रकार का संकल्प है, जिसे काम कहते हैं, चक्षु से उसका रूप हम देख नहीं पाते हैं, किन्तु अनुभव कर पाते हैं –

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे वा प्रीतिरुपजायते।
स कामश्चित्तसङ्कल्पः शरीरं नास्य दृश्यते।।

इसप्रकार किसी भी इन्द्रिय से प्राप्त होने वाला सुख काम के अन्तर्गत आता है। कामना, इच्छा, आकांक्षा आदि ये सारे शब्द काम नामक तत्त्व की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। काम को मन्मथ भी कहते हैं। यह कामुक व्यक्ति के मन को मथ डालता है, जिससे वह व्यक्ति अपने वश में नहीं रह पाता है। परिणामस्वरूप वह काम के वश होकर अकरणीय कर्म करना प्रारम्भ कर देता है।

काम से पराभूत न होने वाला जो पूर्ण जितेन्द्रिय है, उसे अखण्ड ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। अकामहत मानव को प्राप्त होने वाले आनन्द का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.8 में मिलता है। शास्त्रसम्मत काम के सेवन से इच्छित विषयों की उचित समय पर प्राप्ति तथा उसके उपभोग से धर्मानुष्ठान का मुख्य साधन शरीर स्वस्थ तथा सुरक्षित रहता है। काम नामक पुरुषार्थ का सेवन अर्थानुसार होना चाहिये।

काम के विषय में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके अर्जन का साधन उपयुक्त होना चाहिये। अतः कामसम्बन्धी साधनों का अर्जन न्यायपूर्वक तथा धर्मपूर्वक होना उचित है। महाभारत, शान्तिपर्व, 123.15 में धर्म और अर्थ के विरुद्ध काम का सेवन बुद्धि के नाश का कारण बनता है–

यो धर्माथौ परित्यज्य काममेवानुसेवते।
स धर्मार्थपरित्यागात प्रज्ञानाशमिहार्च्छति।।

भागवतपुराण, 11.21.24 के अनुसार, काम की अत्यधिक आसक्ति व्यक्ति को उसके लक्ष्य से भ्रष्ट कर देती है–

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्त मनसो मर्तत्या आत्मनोऽनर्थहेतवः।।

अतः काम को मर्यादित करने के लिये विवाह का विधान किया गया है। वात्स्यायन कामसूत्र, 1.2.3 में युवावस्था को काम के लिये सर्वोत्तम काल मानते हैं–

कामं च यौवने।

काम के लिये संसार के सभी प्राणियों की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से हो जाती है, इसके लिये किसी विधि–विधान की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिये शास्त्रों में भी इसके विधान की चर्चा ज्यादा नहीं मिलती है, प्रत्युत इसके संतुलित प्रयोग के लिये ही नियमों का विधान किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता 7.11 में काम की अध्यात्मपरक व्याख्या की गई है।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।

शंकराचार्य इस श्लोक के भाष्य में काम को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि अप्राप्त विषयों की तृष्णा का नाम काम है और प्राप्त विषयों में जो प्रीति है, उसका नाम राग है। इन दोनों से रहित धर्म के अविरुद्ध शास्त्रानुकूल कामना है, जो देहमात्रधारण करने के लिये आवश्यक है, वह खान–पान की इच्छा रूप काम ईश्वर है–

कामः च रागः च कामरागौ कामः तृष्णा असन्निकृष्टेषु विषयेषु रागो रंजना प्राप्तेषु विषयेषु ताभ्यां विवर्जितं देहादिधारणमात्रार्थं बलम् अहम् अस्मि, न तु यत् संसारिणां तृष्णारागकारणम्। किं च धर्माविरुद्धो धर्मेण शास्त्रार्थेन अविरुद्धोः यः प्राणिषु भूतेषु कामो यथा देहधारणमात्राद्यर्थः अशनपानादि विषयः कामः अस्मि हे भरतर्षभ।।

काम की इस आध्यात्मिक स्वरूप को देखकर यह प्रमाणित हो जाता है कि काम की भी गणना पुरुषार्थ चतुष्ट्य में सार्थक है, क्योंकि धर्म में सहायक होकर काम भी पुरुष के परम पुरुषार्थ का साधक बनता है।

10.1.1.4 मोक्ष

"मुच्यते सर्वैर्दुःखबन्धनैर्यत्र स मोक्षः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिस पद को पाकर जीव समस्त दुख एवं बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वह मोक्ष है। यही मुक्ति भी है। सांसारिक बन्धनों से मुक्ति–मोक्ष की अवधारणा है। बन्धन परतन्त्रता का सूचक है। मोक्ष स्वतन्त्रता है। मोक्ष एवं परमार्थ एक ही सत्ता के सूचक हैं। मोक्ष अध्यात्म की पराकाष्ठा है, अतः इसे परम पुरुषार्थ भी कहते हैं। निःश्रेयस, कैवल्य, अपवर्ग, परम पुरुषार्थ आदि मोक्ष के समानार्थक शब्द हैं। इससे बढ़कर संसार में श्रेष्ठ और दूसरा मूल्य नहीं है। भारतीय दार्शनिक चिन्तकों के अनुसार, मनुष्य केवल भौतिक शरीरमात्र का पुंज नही है, अपितु उसमें अनन्त शक्ति वाली सूक्ष्म आत्मा भी है, जो स्वरूपतः अनन्त ज्ञान, शान्त और पूर्ण आनन्द वाली है। आत्मा के इस स्वरूप का सम्बन्ध ब्रह्म या परमात्मा से जोड़ा जाता है। आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा निर्वाण, मोक्ष या मुक्ति है। मोक्ष दर्शन का मुख्य विषय है। प्रत्येक दर्शनविशेष के मूलभूतसिद्धान्तों के आधार पर आत्मा, परमात्मा, इन दोनों के मध्य का सम्बन्ध तथा मोक्ष का स्वरूप भी अलग अलग है। किन्तु चार्वाक दर्शन को छोड़कर, लगभग सभी भारतीय दर्शनों में इस बात पर सहमति है कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न है, परन्तु अज्ञानता के कारण वह शरीर, इन्द्रिय अथवा मन से अपना पार्थक्य नहीं समझ पाती है। अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने से आत्मा को बन्धन होता है जो

परतन्त्रता का कारण बनता है। बन्धन के कारण पुनर्जन्म की श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है जो अनन्त काल तक चलती रहती है। यह बन्धन सारे दुखों का कारण है। सांसारिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना एकमात्र मोक्ष से सम्भव है। बन्धन का अन्त मोक्ष है। नैयायिकों के अनुसार, मोक्ष दुःखशून्यता के पूर्ण निरोध की अवस्था है। न्याय के प्रवर्तक गौतम दुख के आत्यन्तिक उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से सम्भव है। यह सुख–दुख से शून्य होकर बिल्कुल अचेतन होने की अवस्था है। न्याय मोक्ष को अपवर्ग भी कहते हैं। योग में भी मोक्ष में आनन्द प्राप्त नहीं होता है, आत्मा अपने निसंग स्वरूप में पुनः स्थित हो जाती है। इसप्रकार दुखों से आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक रुप से छुटकारा प्राप्त करना, जन्ममरण के चक्र से मुक्ति पाना, अपने स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाना, ईश्वर या परम अर्थात् सर्वोच्च सत्ता के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित कर लेना, आनन्दमय हो जाना–मोक्ष के सामान्य लक्षण है, जो भारतीय दर्शनों में स्वीकृत है। एक और विषय में सभी भारतीय दर्शन एकमत हैं कि मनुष्य जिस काल में अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसी समय भौतिक वस्तु एवं विषयों के प्रति उसका आकर्षण स्वतः समाप्त हो जाता है और वह सारे दुखों से परे हो जाता है। सभी सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में स्थित रहने को मोक्ष कहते हैं। यह आत्यन्तिक रूप से दुख–निवृत्ति की अवस्था है तथा अद्वैत वेदान्त के अनुसार यही आनन्द की भी अवस्था है। शरीरधारी मोक्षप्राप्तव्यक्ति को स्थितप्रज्ञ, जीवनमुक्त कहते हैं। जैन और बौद्ध दर्शन में मोक्ष प्राप्त व्यक्ति क्रमश अर्हत्, बुद्ध आदि की संज्ञा दी जाती है। इस पद की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष मानवजीवन का एकमात्र परम उद्देश्य, पुरुषार्थ या सर्वोत्तम मूल्य है। विष्णुपुराण, 6.5.57 में इस पुरुषार्थ को सर्वश्रेष्ठ तथा आनन्दमय माना गया है–

इति संसार–दुःखार्क–ताप–तापित–चेतसाम..।
विमुक्तिपादपच्छायामृते कुत्र सुखं नृणाम...।

मनुस्मृति, 12.125 के अनुसार, जो व्यक्ति सभी प्राणियों मे परमात्मा को देखता है, वह सबमें समत्व प्राप्त करके परम ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है–

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम....

मनुस्मृति, 6.36 में मोक्ष के अधिकारी के विषय में भी प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि प्रथमतः विधिवत् प्रकार से वेद का अध्ययन करके, तदुपरान्त धर्मपूर्वक पुत्र उत्पन्न कर विधि के अनुसार यज्ञ–यागादि का अनुष्ठान करके अन्त में व्यक्ति मोक्ष में प्रयत्नशील होना चाहिए। अपने कर्तव्यों का निर्वाहन करके ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन सकता है–

मोक्ष की धारणा मात्र दार्शनिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु व्यावहारिक जगत् में भी यह समान रुप से प्रासंगिक है। यह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है, जिसके द्वारा हमारे सांसारिक दुखों का पूर्णविनाश होता है। भारतीय चिन्तकों ने मनुष्यों के शारीरिक एवं मानसिक क्षमता, स्वभाव, श्रद्धा, प्रवृत्ति एवम् अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए मोक्ष के साधनों की चर्चा की है। सभी व्यक्ति समान प्रवृत्ति तथा अभिरुचि वाले नहीं होते हैं, कुछ व्यक्ति ज्ञानी होते हैं, कुछ कर्मठ होते हैं, कुछ धार्मिक एवं भक्त प्रकृति के होते हैं। इसलिये गीता में मुख्यतः तीनप्रकार के मोक्ष के साधनों की चर्चा की गयी है– ज्ञान–मार्ग, कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग। इनका संक्षेप में परिचय इसप्रकार है–

कर्मयोग– जब मनुष्य द्वारा कामना, स्पृहा, ममता और अहंता से रहित होकर कर्तव्य कर्म का सम्पादन लोक–संग्रह के लिये तथा सृष्टि चक्र को चलाने के लिये किया जाता है, वह कर्मयोग कहलाता है। निष्काम भाव से कर्मों का सम्पादन करने के लिये अन्तःकरण को शुद्ध करने की आवश्यकता है। अन्तःकरण के शुद्ध हुए बिना आत्मज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि अज्ञानी मनुष्य का अन्तःकरण अनन्त वासनाओं का निवासस्थान होता है। अतः अन्तःकरण की स्वच्छता ईश्वर की भक्ति से, निष्काम भाव से कर्मोंके सम्पादन से सम्पन्न होती है। ज्ञातव्य है कि सकाम भाव से अनुष्ठित कर्म मनुष्य को मोक्ष तक पहुँचाने में समर्थ नहीं है। मोक्ष में पहुँचने की स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं–

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।2.72

ब्राह्मी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति अन्त काल तक रह जाये, तो उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

गीता, 5.2 में कर्मयोग को ज्ञानयोग से श्रेष्ठ कहा गया है– **तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।** इसका कारण यह है कि कर्मयोग में सम्पूर्ण कर्म लोकसंग्रह के लिये किया जाता है। इसीप्रकार कर्मयोग ध्यानयोग से भी श्रेष्ठ है, ध्यानात्कर्मफलत्यागः– ऐसा श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता, 12.12 में अर्जुन से कहा है। कर्मयोग में सम्पूर्ण कर्मों के फल का अर्थात् फलेच्छा का त्याग है, जबकि ध्यानयोग में कर्मफल का त्याग नहीं है।

ज्ञानयोग– आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है। इसी तत्त्व से मैं, मेरा, इसका, उसका आदि ये भाव प्रकाशित होते हैं। जबकि आत्मा स्वयं में परिपूर्ण रहता है। इसप्रकार का ज्ञान जब हो जाता है, तो उस ज्ञानरूपी अग्नि में सारे कर्म एवं पाप भस्म हो जाते हैं–

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। गीता, 4.37

भक्तियोग– जो संसार से विमुख होकर केवल भगवान् की ही शरण में जाता है, उसको भगवान् सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर देते हैं। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तू सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर एक मेरी शरण मे आओ, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू चिन्ता मत कर–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।18.66

इसप्रकार भक्तिमार्ग के द्वारा भी मोक्ष नामक गन्तव्य पर पहुँचा जा सकता है।
ध्यातव्य है कि ये तीनों योग एक ही लक्ष्य तक पहुचने के त्रिविध मार्ग हैं।

निष्कर्ष– इसप्रकार पुरुषार्थ चतुष्ट्य के चारों वर्गों का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनचारों के मध्य में घनिष्ठ अन्तःसम्बन्ध है। धर्म, अर्थ और काम– त्रिवर्गों में तीनों का संतुलित अनुष्ठान ही लाभकारी होता है। इनमें से किसी भी एक का संतुलित अनुपात से अधिक मात्रा में अनुसरण नहीं करना चाहिये जिसके कारण अन्य वर्गों की प्राप्ति में बाधा पहुँचने लगे। समभाव से सेवित धर्म, अर्थ और काम– ये तीनों ही पुरुषार्थ वस्तुतः निर्मल और निर्दोष होते हैं, अतः इनके संतुलित एवं सम्यक्

अनुष्ठान से चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष अनायास ही सिद्ध हो जाता है। अतः त्रिवर्ग मोक्षरूप साध्य का साधन है। इसीलिये महाभारत, वनपर्व, 33.42 में इन मूल्यों के संतुलित सेवन पर बल दिया गया है और कहा गया है कि विद्वानों का कर्तव्य है कि वे उचित समय में धर्म, अर्थ और काम– तीनों का सेवन करें –

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर।
विभज्यकाले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः।।

स्पष्ट है कि त्रिवर्ग एक दूसरे के पूरक हैं। अतएव मनु ने मनुस्मृति 12.224 में इनको अलग अलग श्रेयस्कर न मानकर त्रिवर्ग के रुप में कल्याणकारी कहा है–

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।।

त्रिवर्ग की सिद्धि से अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत यदि इनका उपार्जन करने वाला मनुष्य दोषयुक्त होगा तो ये वर्ग भी दूषित हो जाते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व,123.10 में इस विषय में कहा गया है–

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोहमलः कामो भूयस्तद्गुणवर्धितः।।

अर्थात् धर्म में फल की अभिलाषा अर्थात् सकामता, अर्थ में निगूहन अर्थात् उसे दान और भोग में व्यय न करना तथा काम में सप्रमोह अर्थात् उसमें उत्कट मोह उत्पन्न हो जाना– ये तीन, तीनों वर्गों के मूल माने गये हैं। इसके निवारण के लिये सूक्ष्मदर्शी पुरुष धर्म का अनुष्ठान सकाम भाव से न करके निष्काम भावना से करते हैं। वह अर्थ का उपार्जन त्याग के लिये करते हैं तथा काम का सेवन शरीर के स्वास्थ्य के लिये करते हैं। स्वस्थ शरीर से ही व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम के सेवन में समर्थ होता है। इसप्रकार निर्मल निर्दोष त्रिवर्ग के सेवन से चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष अनायास सिद्ध हो जाता है।

इसप्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्गचतुष्ट्य मनुष्य के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। ये चारोंपुरुषार्थ मानवीय स्वभाव के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रवृत्यात्मक, संवेगात्मक, आर्थिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक– मानवीय स्वभाव के ये सारे पक्ष पुरुषार्थचतुष्ट्य में समाहित हो जाते हैं। काम मनुष्य के संवेगात्मक पक्ष को, अर्थ मनुष्य के आर्थिक पक्ष को तथा धर्म मनुष्य के नैतिक पक्ष को प्रकाशित करता है। मोक्ष मानवीय स्वभाव के आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। चतुर्वर्ग प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की एकता के संस्थापक हैं। पुरुषार्थ चतुष्ट्य संतुलित एवं स्वस्थजीवन का आधार है। यह एक ऐसा रथ है, जिसमें आरूढ़ होकर व्यक्ति अपूर्णता से पूर्णता का मार्ग सरलता से पार कर लेता है। इसके माध्यम से दुख से मुक्ति, सुख की प्राप्ति और फिर आनन्दमयता का परमपद भी प्राप्त हो जाता है। व्यक्तिकेन्द्रित होते हुए भी यह अन्ततः समाज तथा देश के कल्याण का हेतु बनता है। धर्म, अर्थ, काम इन तीनों का संतुलित पालन व्यक्ति के सुख–शान्ति तथा समृद्धि का कारण बनती है। मोक्ष व्यक्ति को आध्यात्मिक रूप से पूर्णता की ओर ले जाती है तथा जो व्यक्ति भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् में संतुलन स्थापित कर लेता है, वह सदैव आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है तथा अन्य व्यक्ति के आनन्द, सुख, शान्ति के प्रति कारण बनता है।

10.2 सारांश

प्रस्तुत अध्याय में पुरुषार्थ चतुष्ट्य का परिचय प्रस्तुत किया गया है। यह भारतीय अध्यात्मपरक संस्कृति की मूल अवधारणाओं में से एक है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में चार तत्त्वों का परिगणन किया गया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इसका अपर नाम है – वर्गचतुष्ट्य। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा में पुरुषार्थ चतुष्ट्य पर प्रचुर मात्रा में विचार–विमर्श किया गया है। साहित्यशास्त्र से प्रारम्भ करके दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि में मुख्यरूप से इस विषय पर चर्चा की गयी है। ध्यातव्य है कि ये चारों वर्ग समुदित रुप से विशुद्ध भारतीय जीवनदृष्टि तथा जीवन–पद्धति की आधारशिला है। इनका एकांगीरुप से पालन व्यक्ति तथा समाज के लिये सार्थक नहीं है। धर्म वह तत्त्व है, जो धारण करने योग्य है। इस शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसमें कर्तव्य के अनेक रूप जैसे – धार्मिक कर्तव्य, दैनिक जीवन के कर्तव्य संस्कार, नीति, आचरण आदि का समावेश हो जाता है। यह मुख्य रूप से अर्थ और काम को नियन्त्रण करता है तथा मोक्ष का द्वार है। अर्थ जीविकोपार्जन तथा भली प्रकार से जीवनयापन का मुख्य स्रोत है। धर्म तथा काम के संचालन के लिये भी अर्थ की आवश्यकता होती है। अर्थ व्यक्ति की देश, परिवार तथा समाज में प्रतिष्ठावर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। एक निर्धन व्यक्ति सबके लिये महत्त्वहीन होता है। काम एक मानसिक भावना या व्यापार है। मनुष्य की समस्त प्रकार की इच्छा को काम कहते हैं। काम की पूर्ति भी धर्मपूर्वक होनी चाहिये। अनाचारित काम निन्दनीय है। मोक्ष पुरुषार्थचतुष्ट्य का अन्तिम तत्त्व है, जिसे परम पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। यही अन्य तीन पुरुषार्थों का ध्येय है। यह मनुष्य को सभी बन्धनों तथा दुखों से मुक्ति दिलाने की अवधारणा है। मोक्ष की प्राप्ति होने पर जन्म–मरण के चक्र से भी स्वतः मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भगवद्गीता में मोक्ष के त्रिविध मार्गों पर प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार हैं – ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग। संन्यास धर्म का पालन करने वाले योगियों के लिये है, भक्तिमार्ग भक्तजनों के लिये सुलभ है। कर्मयोग गृहस्थ तथा सांसारिक व्यक्ति के लिये उपादेय है। कर्मयोग ही निष्काम कर्म का सिद्धान्त है।

10.3 शब्दावली

धर्म – धारण करने योग्य

अर्थ – जीविकोपार्जन का साधन

काम – समस्त प्रकार की इच्छाएं

मोक्ष – मुक्ति

धर्माभास – वास्तव में धर्म न होकर धर्म के समान प्रतीत होने वाले अनाचारणीय कर्म

सकाम कर्म – आसक्ति एवं काम की भावना से प्रेरित होकर कर्म का सम्पादन

ममता – मम अर्थात् मेरा इस प्रकार अहंकारयुक्त भावना

अहंता – अहम् अर्थात् मैं – ऐसी अहंकारयुक्त भावना

10.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

शिवदत्त ज्ञानी, भारतीय संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, लखनऊ, 2006

जयदेव वेदालंकार, भारतीय दर्शन का इतिहास (मीमांसा, वेदान्त, भगवद्गीता, चार्वाक, बौद्ध और जैन), न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2012

वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ,2006

देवेश विजय, सांस्कृतिक इतिहास एक तुलनात्मक सर्वेक्षण, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2015

पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड 1उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2010

बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहस, शारदा निकेतन, वाराणसी, 2011

उमाशंकर शर्मा ऋषि, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

श्रीमद्गवद्गीता शांकरभाष्य हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर,2015

10.5 बोध प्रश्न

1. परम पुरुषार्थ है– धर्म/मोक्ष
2. पुरुषार्थों की संख्या है– तीन/चार
3. जीविका से सम्बन्धित पुरुषार्थ है– काम/अर्थ
4. प्रथम पुरुषार्थ है–मोक्ष/काम/धर्म/अर्थ

10.6 अभ्यास प्रश्न

1. धर्म नामक पुरुषार्थ के विषय में प्रकाश डालिये।
2. मोक्ष का परिचय दीजिये।
3. जीविका–वृत्ति से सम्बन्धित पुरुषार्थ का परिचय दीजिये।
4. त्रिवर्ग किसप्रकार एक–दूसरे के पूरक हैं?

10.7 बोध प्रश्न के उत्तर

1. मोक्ष
2. चार
3. अर्थ
4. धर्म

अभ्यास प्रश्न के उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखे।

इकाई 11 निष्काम कर्मयोग का अभिप्राय और फल

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 निष्काम कर्म का अभिप्राय

11.2.1 निष्काम कर्म के आधारभूत तत्त्व

11.2.2 आसक्ति (संगता) का स्वरूप तथा उसका फल

11.2.3 अनासक्ति (असंगता) का स्वरूप तथा उसका फल

11.3 सारांश

11.4 शब्दावली

11.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.6 अभ्यास प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म के स्वरूप को समझ जायेगें।
- निष्काम कर्म के फल को समझ जायेंगे।
- निष्काम कर्म के सिद्धान्त की आत्मप्रबन्धन के सन्दर्भ में महत्ता समझेंगे।

11.1 प्रस्तावना

कर्म का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति तथा अध्यात्मशास्त्र का अमूल्य सिद्धान्त है। यह सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति तथा अध्यात्मशास्त्र की प्राचीन किन्तु जीवन्त सिद्धान्तों में से एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह भारतीय मनस् के अन्तर तथा बाह्य संरचना का प्राणतत्त्व है। भारतीय संस्कृति में कर्म के सिद्धान्त के बहुमुखी पक्ष हैं, जिनमें से दो पक्ष मुख्य हैं – प्रथम पक्ष है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसी के अनुरूप फलों का भोग करता है। दूसरा पक्ष यह है, यदि कर्म निष्काम भाव से किया जाये तो मनुष्यों की कर्मफलों से सदैव के लिये मुक्ति सम्भव है। अतः दुखों से अन्त्य मुक्ति भी सम्भव है। द्वितीय पक्ष निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त है, जो मुख्यतः श्रीकृष्ण के द्वारा महाभारत के अन्तर्गत भगवद्गीता में प्रतिपादित किया गया है। निष्काम कर्म का सिद्धान्त भगवद्गीता का सम्पूर्ण मानवजगत के लिये अनमोल योगदान है। महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत 25 वें अध्याय से लेकर 42वें अध्याय तक 700 श्लोकों में निबद्ध अंश को भगवद्गीता कहते हैं। यह कुल 18 अध्यायों में विभक्त है। संक्षिप्त में इसे गीता भी कहते हैं। संस्कृत भाषा के अनुसार, श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ है –श्रीमता भगवता गीता इति श्रीमगवद्गीता। आदरसूचक 'श्रीमान् विशेषण से युक्त भगवान् शब्द श्रीकृष्ण के लिये प्रयुक्त होता है। 'गै गाने' धातु से भूतकाल में निष्ठाप्रत्यय 'क्त' तथा स्त्रीलिङ्गी टाप् प्रत्यय करने पर गीता शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार भगवान् के द्वारा गाया गया गान श्रीमद्भवद्गीता है। सम्पूर्ण गीता

किंकर्तव्यविमूढ अर्जुन को श्रीकृष्ण के द्वारा उसके बुद्धि के प्रकाशनार्थ दिये गये उपदेशों का श्लोकबद्ध संग्रह है। कृष्ण ने ज्ञानयोग, भक्तियोग के साथ निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त को स्थापित किया।

11.2 निष्काम कर्म का अभिप्राय

निष्काम कर्म का अर्थ है – किसी भी कामना, इच्छा अथवा आसक्ति के त्यागपूर्वक अपने कर्म का सम्पादन करना। फल और आसक्ति को त्यागकर समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम निष्काम कर्मयोग है। निष्काम शब्द का अर्थ "नैष्कर्म्यम् अश्नुते" वाक्यांश से स्पष्ट होता है, जिसका आशय यह है कि कर्मयोग का आचरण करने वाला मनुष्य कर्मों को करते हुए निष्कर्मता को प्राप्त होता है। जिस स्थिति में मनुष्य के कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् वह बन्धनकारक नहीं रह जाते, उस स्थिति को निष्कर्मता कहते हैं। कामना से रहित होकर किये गये कर्मों में फल देने की शक्ति का सर्वथा उसी प्रकार अभाव हो जाता है, जिस प्रकार बीज को भुनने पर उसमें पुनः अंकुर देने की शक्ति पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती है। अतः मनुष्य अपने कर्तव्यों का सम्पादन किसी कामना या फल की आकांक्षा से रहित होकर करे, यही कर्मयोग का इष्ट है। किन्तु इस सिद्धान्त का पालन करना मनुष्य जगत् के लिए व्यावहारिक स्तर पर अत्यन्त दुःसाध्य है। एक साधारण मनुष्य सदैव ही अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं से बंधा रहता है और उन्हीं इच्छाओं से प्रेरित होकर वह कर्मों का सम्पादन करता है। भर्तृहरि की एक प्रसिद्ध पंक्ति भी है – "प्रयोजनेन विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते अर्थात् प्रयोजन के बिना एक मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है।" यही जीवन की वास्तविकता भी है। ध्यातव्य है कि प्रयोजन शब्द की अपेक्षा लक्ष्य या उद्देश्य शब्द आध्यात्मिक जगत् में ज्यादा उचित प्रतीत होता है। यह प्रामाणित है कि लक्ष्यहीन व्यक्ति परिवार, समाज, देश के लिये हानिकारक होता है। वह समाज के प्रत्येक इकाई में अपने सामर्थ्यानुसार अराजकता, अशान्ति, नाश का कारण बनता है। वास्तव में उद्देश्यहीन मानवजीवन हमारे शास्त्रों में स्वीकृत नहीं है। गीता में भी उद्देश्यहीन कर्म करने की स्वीकृति नहीं है। अपितु उद्देश्य का स्वभाव शुद्ध कल्याणकारी होना चाहिए। जगत् के अधिकाधिक मनुष्यों का कल्याण इसमें निहित होना चाहिये। इसका साक्षात् उदाहरण गीता में ही उपस्थित है, जब साक्षात् भगवान से अमृतरूपी उपदेश सुनने के बाद भी अर्जुन ने श्रीकृष्ण से उनके विराट् स्वरूप के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की थी, जिसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण ने अपने विराट् स्वरूप का दर्शन देकर अर्जुन को कृथार्थ किया। इस प्रकार 'परमार्थप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना' भगवान् कृष्ण की दृष्टि में भी प्रशंसनीय है। स्पष्ट है कि अभिलाषा, अतृप्ति या लक्ष्य स्वयं में परित्यज्य नहीं है, यदि उसका स्वरूप कल्याणकारी हो। वह राजसिक अथवा तामसिक स्वभाव वाला नहीं होना चाहिए। अतः गीता में उद्देश्यहीन या लक्ष्यहीन कर्म का उपदेश नहीं दिया गया है अपितु निष्काम कर्म का उपदेश दिया है, जो निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा देता है। इसी जीवनदृष्टि के आधार पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उसके कर्तव्यों का निर्वाह करने के लिये प्रेरित किया। वास्तव में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए कोई भी मनुष्य कर्मयोगी बनकर परमार्थ की प्राप्ति कर सकता है। अतः एक गृहस्थ व्यक्ति के द्वारा भी अपने पारिवारिक, सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी परमार्थ की प्राप्ति पूर्णतया सम्भव है। इसका उदाहरण उपनिषदों में उद्धृत राजा जनक के व्यक्तित्व में प्रस्फुटित होता है, जिन्होंने श्रेयमार्गी होते हुए भी अपने सारे पारिवारिक, सामाजिक दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया। जनक के अनुसार संसार का कोई भी कर्म इतना गर्हित नहीं है कि उसे करते हुए मोक्ष से वंचित रह

जायें। भोग में योग की भावना रखना योग है अथवा योग वह है जो भोग के भीतर भी अक्षुण्ण रहता है, यही जनक के जीवन की सबसे बडी शिक्षा थी। अतः निष्काम कर्म एक ऐसा मार्ग है जिसका पालन करने से सांसारिक व्यक्ति भी अध्यात्म के शिखर पर पहुँच सकता है। अर्जुन स्वयं भी एक गृहस्थ है और उसे स्वयं भगवान् ने परमार्थ का ज्ञान दिया। अर्जुन की किंकर्तव्यविमूढता भी आध्यात्मिक दृष्टि पर आधारित है। उसे अपने सांसारिक हित का विचार नहीं करना है। अपितु उसे पारलौकिक दृष्टि से विचार करना है कि कौन सा कर्म उसकी आत्मा के लिये श्रेयस्कर है। उसे राज्यप्राप्ति जैसी ऐहिक सुख की प्राप्ति इष्ट नहीं है। उसे चिन्ता इस बात की है कि वह जो कर्म करने जा रहा है, उससे उसे किसप्रकार का कर्मफल प्राप्त होगा। उसके कर्म धर्म–अधर्म, पुण्य–पाप की दृष्टि से उचित हैं कि नहीं, यह जानना उसके लिये महत्त्वपूर्ण है। अतः गीता का कर्मयोग का सिद्धान्त इसी आध्यात्मिक दृष्टि पर आधारित है।

निष्काम कर्म को कर्मयोग भी कहते हैं। कर्मयोग शब्द कर्म तथा योग–दो शब्दों से बना है। कर्म शब्द संस्कृत का शब्द है, जो कृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है– करना। सामान्य रुप से गीता में इसी अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। यह जीवन के प्रत्येक कर्म को अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है। गीता के अनुसार, कायिक, वाचिक एवं मानसिक रूप से मनुष्य जो भी करता है, वह कर्म है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कर्म और क्रिया के स्वरूप की भिन्नता को समझना आवश्यक है। ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। सृष्टि के अन्तर्गत जड और चेतन दो मूल तत्त्व हैं। आत्मा चेतन है। जड अचेतन है। कर्म चेतन आत्मा से सम्बद्ध है। क्रिया अचेतन पदार्थ का व्यापार है। सांख्य दर्शन के अनुसार, इस जड का मूल उपादान कारण 'प्रकृति' है, जो स्वयं भी जड है तथा स्वभावतः त्रिगुणात्मक है। अर्थात् वह सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था है। क्रिया करना प्रकृति का स्वभाव है। जबकि चेतन आत्मा अक्रिय है। उसमें न क्रिया है और न कर्म है। परन्तु जब चेतन क्रियाशील प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर उसकी क्रिया को अपने में आरोपित कर लेता है अर्थात् मैं करता हूं–ऐसा अहंकृतभाव कर लेता है। तब प्रकृति की क्रिया इसके लिये कर्म बन जाती है, जो कि शुभ–अशुभ फल देने वाली होती है–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।गीता, 3.27।।

क्रिया कभी बांधने वाली नहीं होती, प्रत्युत अहंभावकृतभावपूर्वक किया हुआ कर्म बांधनेवाला होता है। अतः जिसमें अहंकृतभाव और फलेच्छा नहीं है, वह अगर सम्पूर्ण प्राणियों को मार भी दे तो भी वह न मारता है, न बंधता है। क्योंकि उसमें कर्तृत्व का आरोप नहीं होता है। अपितु यहाँ केवल क्रिया हो रही है। गीता में इसकी व्याख्या इसप्रकार है–

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। गीता, 18.17

योग शब्द युज् धातु से बना है, जिसके तीन अर्थ हैं– समाधि, संयमन, योग। प्रथम अर्थ में युज् समाधौ धातु से बना योग शब्द है जिसका अर्थ है– चित्त की स्थिरता। पतंजलि के योगसूत्र में इसी अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है– योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (1.2)। द्वितीय अर्थ– युज् संयमने धातु से बना योग शब्द है, जिसका अर्थ है– सामर्थ्य, प्रभाव; जैसे–पश्य मे योगमैश्वरम् (9.5) आदि। तृतीय अर्थ–

युजिर्योगे धातु से भी योग शब्द बनता है, जिसका अर्थ है– समत्वरूप परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध। गीता में इसी अर्थ में मुख्यतया योग शब्द का प्रयोग हुआ है– समत्वं योग उच्यते। परमात्मा सम है। उसमें विषमता का कोई स्थान नहीं है। अतः परमात्मा के अंश जीवात्मा में भी समता होती है। आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होना समता या समभाव है। समभाव में स्थित होकर कर्तव्यों का सम्पादन करना योग कहलाता है–

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।।गीता, 2.48

समत्वरूप बुद्धियोग की तुलना में सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। समबुद्धि पुरुष पाप और पुण्य दोनों को इसी लोक में त्याग देता है, अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है। यह कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है। समत्व का भाव बुद्धि में स्थिरता लाती है। अतः सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणों में, धर्मात्मा और पापियों में समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ कहलाता है–

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।। गीता, 6.9

जो योगी अपनी भांति सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुख को भी सब में सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।गीता, 6.32

इसी सन्दर्भ में योग की एक अन्य परिभाषा भी है, जो 'समत्वं योग उच्यते' की स्पष्ट करने में सहायक है। तदनुसार, कार्य का इसप्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वे बन्धन न उत्पन्न करें योग कहलाता है – योगः कर्मसु कौशलम्। अतः यह निष्कर्ष निकला कि जब व्यक्ति कर्मों की सिद्धि और असिद्धि में और उन कर्मों के फल की प्राप्ति एवं अप्राप्ति में एक रहता है, वह कर्मों की कुशलता है। वही योग है। श्रीकृष्ण ने श्लोकबद्ध रूप में निष्काम कर्म अर्थात् कर्मयोग को परिभाषित किया है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। गीता, 2.47

भावार्थ यह है कि कर्म करने में ही मनुष्य का अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। अतः कर्मों के फल का हेतु नहीं होना चाहिये। जब मनुष्य कर्मफल, कर्म करने के करणों तथा कर्म करने की सामग्री के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। तब वह कर्म का हेतु बन जाता है। संसार में बहुत से कर्म होते रहते हैं, किन्तु हम उन कर्मों के हेतु नहीं बनते हैं, अतः उनसे प्राप्त होने वाले फल हमें नहीं मिलते हैं। कर्मों का फल उन्हीं को मिलता है, जो कर्म आदि के साथ सम्बन्ध जोड लेते हैं। कर्मयोगी कर्म, कर्मफल आदि के साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता है, इसीलिये वह कर्मों का हेतु नहीं बनता है। इसके साथ ही उसको कर्म न करने में भी आसक्ति नहीं होती है। अकर्मण्यता किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं है।

11.2.1 निष्काम कर्म के आधारभूत तत्त्व

मन, बुद्धि, आत्मा तथा परमात्मा– ये चार तत्त्व निष्काम कर्म के आधारभूत प्रत्यय हैं, यही आत्मप्रबन्धन के भी आधारस्तम्भ हैं। आत्मप्रबन्धन शब्द का अर्थ है– स्वयं का प्रबन्धन। यह दो शब्दों से मिलकर बना है– आत्मा एवम् प्रबन्धन। सामान्यतया दर्शन में आत्मा शब्द का अर्थ होता है– जीवात्मा तथा परमात्मा। किन्तु आत्मप्रबन्धन के प्रसंग में अन्तःकरण भी आत्मा के अन्तर्गत आ जाता है। अन्तःकरण में मन, अहंकार और बुद्धि इन तीनों का ग्रहण होता है। अतः इन अर्थों के आधार पर आत्मप्रबन्धन कई स्तर पर घटित होने वाली प्रक्रिया है जैसे– मन का नियन्त्रण तथा उसकी एकाग्रता, बुद्धि की विवेकशीलता, अहंकार का दमन, आत्मा की असंगता– यह सब विभिन्न स्तरों पर घटित होने वाली आत्मप्रबन्धन की प्रक्रिया है। इस सन्दर्भ में एक और तत्त्व है जिसकी चर्चा अपरिहार्य है, वह है– परमात्मा। आत्मप्रबन्धन में परमात्मा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीता के अनुसार, ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग या भक्ति मार्ग ये मुख्यतः तीन मार्ग हैं, जिससे परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतः अन्तःकरण, जीवात्मा, परमात्मा–ये सारे आत्मप्रबन्धन के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण घटक तत्त्व हैं। मन, बुद्धि तथा अहंकार जड है, जबकि आत्मा चेतन है। चेतन आत्मा के दो स्वरूप हैं– परमात्मा तथा जीवात्मा। शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार जीवात्मा परमात्मा तत्त्वतः एक ही चेतन हैं। जीवात्मा चेतन का अविद्या से उपहित स्वरूप है, जो जन्म–मरण के चक्र में फंसा रहता है। जीवात्मा का संयोग प्राप्तकर मन, बुद्धि भी सचेष्ट या सक्रिय हो जाते हैं। इसी प्रकार मन तथा बुद्धि के साथ संयोग से चेतन आत्मा जो स्वभावतः निष्क्रिय है, सक्रियवत् हो जाता है। इसप्रकार चेतन एवं अचेतन के सम्बन्ध से सृष्टि चलती रहती है। भारतीय मनीषियों के अनुसार, चेतन तथा अचेतन के मध्य में स्थापित औपाधिक सम्बन्ध को समाप्त करना आवश्यक है। क्योंकि इस सम्बन्ध के समाप्त होने पर ही जीवात्मा का परमात्मा से मिलन होता है। यही परम आनन्द की अवस्था है, जिसमें सारे दुखों से मुक्ति मिल जाती है। अतः जीवन का परम लक्ष्य परमात्मा से जीवात्मा का मिलन है। जीवात्मा का परमात्मा के साथ नित्यसम्बन्ध है, आत्मा परमात्मा की विभूति या अंश है, अतः आत्मा को परमात्मा की सदा अपेक्षा या इच्छा बनी रहती है। यही मिलन भारतीय आत्मप्रबन्धन का प्रमुख लक्ष्य है। अतः ये प्रमुख तत्त्व विचारणीय हैं–

मन–गीता में श्रीकृष्ण ने मन के महत्ता के कारण अहंकार के स्थान पर तत्कार्यरूप मन को अष्टधा अपरा प्रकृति के अन्तर्गत पढ़ा है–

> **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।**
> **अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। 7.4**

मन–संकल्प–विकल्पात्मक होता है। मन के द्वारा ही इन्द्रियां बाह्य तथा आन्तर विषयों को ग्रहण करती हैं और परम्परया जीवात्मा उस विषय का उपभोग करती हैं। मन की गति वायु से भी तेज मानी जाती है। मन की चंचलता मनुष्य के बन्धन में कारण है। यदि इस मन पर नियन्त्रण कर लिया जाये तो मन एकाग्र हो जाता है, जिससे मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करने में महान् सहायता प्राप्त होती है।

बुद्धि– दूसरा तत्त्व बुद्धि है, जिसका लक्षण इसप्रकार है– निश्चयात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः बुद्धिः अर्थात् अन्तःकरण में बुद्धि 'निश्चय करने की शक्ति या वृत्ति' है। बुद्धि का वैशिष्ट्य यह है कि उसके द्वारा निर्णीत विषय में कोई संशय, संकल्प–विकल्प नहीं होता है। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मयोगी की बुद्धि निश्चयात्मिका स्वभाव की होती

है, किन्तु अस्थिर विचार वाले जो विवेकहीन व्यक्ति होते हैं, उनकी बुद्धि निश्चयात्मक नहीं रहती अपितु जितनी प्रकार की विषय वासनाएं होती है उन्हीं के अनुपात में अनन्त वासनात्मक बुद्धियाँ भी हो जाती हैं–

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखाः ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।गीता, 2.41

बुद्धि की इसी अनिश्चयात्मकता के कारण व्यक्ति अपने लक्ष्य तक भी नहीं पहुँच पाता।

आत्मा–तीसरा तत्त्व आत्मा है, जो परमात्मा से तद्रूपात्मक होती है। यह चेतनस्वरूप है। गीता में इसे परा प्रकृति कहते हैं। जब यह किसी शरीर में निवास करती है, तभी शरीर चेतनवत् व्यवहार करता है। इसके अनुपस्थिति में मन तथा बुद्धि भी निष्क्रिय पड़े रहते हैं। अतः जीवित व्यक्ति होने का तात्पर्य है कि पंचभौतिकशरीर में आत्मा का वास है। आत्मा या जीवात्मा मन सहित पांचों इन्द्रियों को अपनी ओर खींच लेता है–

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।गीता, 5.7

यह कर्ण, नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन का अधिष्ठाता बनकर विषयों का सेवन करता है अर्थात् उनका भोग करता है–

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।गीता, 15.9

जब मन के अन्तर्द्वन्द्वों से प्रभावित होकर अज्ञान से आवृत्त बुद्धि अपनी निश्चयात्मिका स्वभाव को छोड़कर अधर्म या अकरणीय व्यवहार में प्रवृत्त होती है, तब उसका परिणाम आत्मा को ही भोगना पडता है। आत्मा ही सुख–दुख का अनुभव करती है। ध्यातव्य है कि भोग के साथ–साथ आत्मा को मुक्ति के लिये भी मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंकी आवश्यकता होती है। जबतक ये सारे अपने रजस् एवं तमस् प्रधान क्रिया का त्याग नहीं करते हैं और सत्त्वप्रधान अवस्था में नहीं आते हैं, तबतक आत्मा भी अपने अन्तिम गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकती।

परमात्मा– चौथा तत्त्व परमात्मा अथवा ईश्वर है, जिसकी प्राप्ति मनुष्य जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। यह सर्वोच्च सत्ता है।

इन चार तत्त्वों के आधार पर निष्कार्म कर्म के साधन या उपाय, प्रक्रिया तथा उसके परिणाम पर विचार किया जाता है। इनके माध्यम से निष्काम कर्म की स्वरूपगत विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। अतः निष्काम कर्म की क्रमबद्ध प्रक्रिया के आधार पर इसे दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. आसक्ति/संगता का स्वरूप तथा उसका फल।
2. अनासक्ति/असंगता का स्वरुप तथा उसका फल।

11.2.2 आसक्ति (संगता) का स्वरूप तथा उसका फल

आसक्ति अर्थात् मोह, ममता। आसक्ति का मूल कारण है–अहंकार, जिसकी अभिव्यक्ति अहमत्व एवम् ममत्व रुप में होती है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन 'मैं और मेरा' इन्हीं दो केन्द्रबिन्दुओं पर आधारित है। अहंता, ममता और वासनारूपी जड़ें पूरी सृष्टि को जकड़े हुए हैं। यहीं से सांसारिक जीवन का चक्र प्रारम्भ होता है, और यह समस्त

दुखों का जनक है। भारतीय दार्शनिक परम्परा इनदोनों ही भावनाओं को सत् के बन्धन का कारण मानती है। इस बन्धन की परिणति अन्ततः दुख के रूप में होती है। व्यक्ति जब तक अहंकारयुक्त "मैं" और "मेरा" इस भावना से बंधे रहता है, तब तक वह अपने मौलिक स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान् नहीं कर पाता है। स्वयं को ही न पहचान पाना किसी भी शास्त्र में उचित नहीं माना जाता है। अतः इस आसक्ति से छुटकारा पाना अत्यन्त आवश्यक है। इससे छुटकारा सम्भव भी है, क्योंकि यह मानव का मौलिक स्वभाव नहीं है, अपितु आरोपित स्वभाव है। आरोपित वस्तु से छुटाकारा पाया जा सकता है। अतः भारतीय शास्त्रों में आसक्ति से मुक्ति के उपाय वर्णित हैं। प्रश्न यह है कि आसक्ति से छुटकारा प्राप्त करना क्या केवल पारमार्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है अथवा व्यावहारिक स्तर पर भी इससे कोई लाभ है ? तथा आसक्तियुक्त जीवन जीने से क्या हानि है ? तथा इसका आत्मप्रबन्धन से क्या सम्बन्ध है। आसक्ति से सम्बन्धित इसप्रकार के प्रश्नों के उत्तर जानने के लिये दार्शनिक सिद्धान्त तथा उसपर आधारित जीवन–दृष्टि प्रस्तुत हैं–

1. सृष्टि में एकमात्र आत्मा की ही सत्ता है। आत्मा स्वतन्त्र, नित्य तथा अखंडित है। यह चेतन स्वरूप और निर्धर्मक है। आसक्ति आत्मा के मूलस्वरूप का अंश नहीं है। आसक्ति आत्मा पर एक आरोपित भावना है। शास्त्रानुसार आरोपित वस्तु से छुटकारा पाये बिना जीवात्मा के लिये मोक्ष सम्भव नहीं है। अतः इससे मुक्ति आवश्यक है। गीता में इस बात की पुष्टि इस सिद्धान्त से हो जाती है, कि जिसकी सत्ता होती है, उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। जो असत् है, उसकी सत्ता कभी भी नहीं हो सकती–

   नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।..... गीता, 2.16

   इस सिद्धान्त के अनुसार, एकमात्र आत्मा की सत्ता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता नहीं है। अतः आसक्ति, विषय, जड जगत् इनका नाश निश्चित है। अद्वैत वेदान्त के आचार्य शंकर गीताभाष्य में इसकी सटीक व्याख्या करते हैं कि शीतोष्णादि पदार्थों की वास्तविक सत्ता नहीं है, वह केवल विकार है, जो सदैव बदलता रहता है। अतः उनसे प्राप्त होने वाले परिणाम भी अस्थायी होते हैं।

2. आसक्त व्यक्ति अपने स्वधर्म का पालन करने में असमर्थ होता है। आसक्ति मनुष्य के विवेकज्ञान को ढक लेती है। फलस्वरूप शोक–मोहादि दोषों से उसका चित्त घिरा रहता है। वह सदैव पाप–पुण्य, सुख–दुख, सफलता–असफलता के चक्र में फंसा रहता है। उनसे कभी निवृत्त ही नहीं हो पाता है। आसक्ति की अभिव्यक्ति काम, क्रोध, मोह इत्यादि रूपों में होती है। गीता में इस प्रक्रिया को क्रम मे अभिव्यक्त किया है। तदनुसार, विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, तब उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।

   ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते,
   संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। गीता, 2.62
   क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। गीता, 2.63

इसप्रकार यह सिद्ध है कि एक संवेग अन्यान्तर संवेगों का जनक होता है, चाहे वह सकारात्मक हो या नकारात्मक। इस नकारात्मक संवेगों को समाप्त करने का एक सुलभ मार्ग महाभारत में विदुर ने भी बताया है। उनके अनुसार, क्रोध को अक्रोध से, दुर्जनता को सज्जनता से, असत्य को सत्य से, कृपणता को दान से जीता जा सकता है–

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्।।

महाभारत, उद्योगपर्व, 38.73–74

3. जीवात्मा अपनी ज्ञानेन्द्रियों अर्थात् श्रोत्र, चक्षु और त्वचा, रसना, घ्राण और मन को आश्रय बनाकर बाह्य विषयों का सेवन करता है–

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणामेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।गीता, 15.9

श्रोत्र से शब्द सम्बन्धी, चक्षु से रूप सम्बन्धी, त्वचा से स्पर्श सम्बन्धी, रसना से स्वाद सम्बन्धी, घ्राण से गन्ध सम्बन्धी तथा मन से भावनात्मक विषयों का सेवन करता है। यह प्रक्रिया यान्त्रिकी है, जिसे रोककर रखना एक जीवित मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। योगी और भोगी दोनो की ज्ञानेन्द्रियां एक ही प्रकार से अपने अपने कार्य सम्पादित करते रहते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि योगी अनासक्त भाव से तथा भोगी आसक्त भाव से विषयों का सेवन करता है। अतः एक ही इन्द्रिय से योग और भोग दोनों होता है। कोई भी कार्य जब निर्वाहबुद्धि से किया जाये, उसमें किसी भी प्रकार का राग न हो, तो वह योग हो जाता है। इसके विपरीत कोई कार्य जब मोह, इच्छा के कारण किया जाये तो वह भोग हो जाता है। श्रीकृष्ण ने आसक्त भाव से युक्त व्यक्ति के विषय में इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि आसक्त व्यक्ति की इन्द्रिय से सम्बन्धित विषयों में राग और द्वेष छिपे हुए रहते हैं, जो सदैव किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक ही होते हैं। अतः व्यक्ति को सदैव इसप्रकार सावधान रहना चाहिए कि वह राग–द्वेष जैसी नकारात्मक भावनाओं से दूर रहे।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वैषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।गीता, 3.34

4. काम, इन्द्रियां, मन और बुद्धि– ये सब आसक्ति के वासस्थान कहे गये हैं। काम, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करते हैं। वासना हमारे स्वतन्त्र स्वरूप का अपहरण कर लेती है। फलस्वरूप विवेकशक्ति चेतनाशून्य हो जाती है और तर्कशक्ति प्रतिबन्धित हो जाती है। मन की अनियन्त्रित गति के कारण आत्मा उसकी दास बन जाती है।

11.2.3 अनासक्ति (असंगता) का स्वरूप तथा उसका फल

आसक्ति से मुक्तिप्राप्त व्यक्ति अर्थात् निष्काम भावको प्राप्त व्यक्ति असंग कहलाता है। जिसकाल में पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है और स्वयं में सन्तुष्ट रहता है, उसी काल में उस असंग व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहते हैं–

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।गीता, 2.55

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति देहाभिमान और ममता से रहित होता है। अतएव वह सभी वस्तुओं, जीवों, घटनाओं तथा अन्य सभी के प्रति समदर्शी हो जाता है, यही स्थितप्रज्ञता का प्रधान लक्षण है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को ज्ञानी भी कहते हैं क्योकि वह विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी ही होते हैं–

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणेगवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।5.18

दुखों की प्राप्ति होने पर उसके मन में उद्वेग नहीं होता है, सुखों की प्राप्ति होने पर भी वह सर्वथा निःस्पृह रहता है, तथा उसके राग, भय और क्रोध पूर्णतया नष्ट हो चुके रहते हैं।

दुःखेष्वनुद्विग्मनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।गीता, 2.56

ऐसा मनुष्य सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।गीता, 2.57

निष्कर्ष यह है कि स्थितप्रज्ञता में समता की स्थापना हो जाती है। साधक में समता आ जाने पर अन्य आवश्यक लक्षण अपने आप आ जाते हैं। श्रीकृष्ण ने समता को ईश्वर का स्वरूप कहा है। समता साक्षात् ईश्वर अर्थात् परमात्मा का स्वरूप है– निर्दोषं हि समं ब्रह्म (5.19), समोऽहं सर्वभूतेषु (9.29)। स्थितप्रज्ञ अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहितचित्त होकर सदैव ध्यानमग्न स्थिति में रहता है। अतः ऐसे व्यक्ति की इन्द्रियां वश में होती है और उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है–

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।गीता, 2.61

अतः वह निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्य कर्म को भलीभाति करता है तथा लोकसंग्रह करता है–

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।गीता, 4.23

उसके सम्पूर्ण कर्म भलीभांति विलीन हो जाते हैं। अतः कर्म करते हुए भी उसे कर्मों का फल नहीं भोगना पडता है। अन्ततः सदा कर्तव्यकर्म को करता हुआ वह व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार कर्म में असंग भाव ही निष्काम कर्म का स्वरूप है। इसप्रकार समतारूप योग निष्काम कर्म की पराकाष्ठा है, जिसके फलस्वरूप मुक्ति अर्थात् मोक्ष मिल जाता है। यहाँ निष्काम कर्म के स्वरूप तथा उसके फल को स्पष्टतर रूप में समझने के लिये निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है–

1. **त्याग की भावना**– गीता में त्याग को सर्वश्रेष्ठ आचरण माना गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि किसी भी वस्तु या सत्य के मर्म को न जानकर किये जाने वाले अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान की तुलना में परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है, और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त होती है–

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानादध्द्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। गीता, 12.11

जो वस्तु अपनी नहीं होती है, उसी का त्याग सम्भव होता है। जो अपना नहीं है, उससे सम्बन्धविच्छेद कर देना त्याग है। अग्नि कभी भी अपनी दाहक शक्ति का त्याग नहीं कर सकती, क्योंकि दाहक शक्ति उसका स्वभाव है। किन्तु आसक्ति का त्याग सम्भव है, क्योंकि वह जीवात्मा का स्वभाव नहीं है। अतः आसक्ति का भी त्याग परिहार्य है। आसक्ति को त्यागने का तात्पर्य है अहमत्व और ममत्व का त्याग। आत्मा से आसक्ति का आरोप हटाना इष्ट है। इस प्रक्रिया में भी श्रीकृष्ण ने एक क्रम बताया है, तदनुसार साधक सबसे पहले कामना का त्याग करता है, उसके बाद स्पृहा, ममता तथा अहंता का त्याग करता है। गीता में श्रीकृष्ण ने आसक्ति के त्यागपूर्वक कर्तव्य को करना को सत्त्वप्रधान त्याग कहा है। यही श्रेष्ठतम त्याग का स्वरूप है। इसके अतिरिक्त राजस तथा तामस त्याग भी होता है,किन्तु वह आचरणीय नहीं होता है। शारीरिक कष्ट के भय से किया गया त्याग राजस् त्याग होता है। मोह के कारण बिना विचार किये कर्तव्य का, क्रियाओं का तथा पदार्थों का त्याग तामस त्याग होता है, जिससे मनुष्य की अधोगति होती है।

2. **इन्द्रियनिग्रह**– बाह्य विषयों में इन्द्रियनिग्रह का अभ्यास करना चाहिये। इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदैव बाह्य विषयों की ओर रहती है। विषयों की ओर से इन्द्रियों को हटा लेना इन्द्रियनिग्रह कहलाता है। यह आत्मप्रबन्धन का प्रथम सोपान है। किसी भी प्रकार का अभ्यास दीर्घकाल तक, अन्तरायरहित तथा श्रद्धा के साथ आचरित होनेपर दृढभूमि हो जाता है। अतः इन्द्रियनिग्रह तथा अन्य का अभ्यास करते रहना चाहिये।

3. **मनोनिग्रह**– इन्द्रियनिग्रह के साथ–साथ मन का निग्रह भी करना पड़ता है। अर्थात् मन के व्यापार की दिशा को प्रत्यावर्तित करके उसे परमात्मा में लगाना पड़ता है। मन जिस जिस विषय की ओर भागता है, उस उस विषय को ओर से मन को रोककर उस विषय से हटाकर इसे बार–बार परमात्मा में लगाना चाहिये अथवा जो भी लक्ष्य निर्धारित किया गया है, उसमें मन को लगाना चाहिए। किन्तु लक्ष्य सात्त्विक होना चाहिये– ये अनिवार्य शर्त है, जिसकी पूर्ति आवश्यक है–

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।गीता, 6.26

मनोनिग्रह इतनी सरल प्रक्रिया नहीं है। स्वयं श्रीकृष्ण मन के विषय में कहते हैं कि मन स्वभावतः अत्यन्त चंचल है, अतः उसपर नियन्त्रण करना सरल नहीं है–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।गीता, 6.35

जो व्यक्ति मन को अपने में नियन्त्रण में कर लेता है, निश्चित ही उसे उसका लक्ष्य सहजता से प्राप्त हो जाता है–

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।गीता, 6.36

अतः संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेषरूप से त्यागकर और मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भलीभांति रोकना चाहिए–

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।गीता, 6.24

मनोनिग्रह में सफल व्यक्ति में स्थित रजोगुण का निरोध हो जाता है, वह शान्ति प्राप्त कर लेता है और आनन्द की अवस्था में रहने लगता है। मनोनिग्रह से मन एकाग्र होता जाता है। वह बाह्य विषयों में रमण करना समाप्त कर देता है, अन्तःकरण शान्त हो जाता है, बुद्धि विशुद्ध सत्त्वप्रधान अवस्था में अध्यवसायात्मक रुप से स्थापित हो जाती है, तब व्यक्ति की स्थिरता उसके लक्ष्य में हो जाती है तथा निरन्तर लक्ष्यानुकूल प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देता है।

4. **सहनशीलता का अभ्यास**– मनुष्य को विपरीत परिस्थितियों में सहनशील होना चाहिये। दुख विनाशशील है, अतः उसको सहन करने का अभ्यास करना चाहिये।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। गीता 2.14

जो साधक इस मनुष्य शरीर में रहते हुए अर्थात् शरीर का नाश होने से पहले–पहले ही काम–क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाते हैं। वही पुरुष योगी है –

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।गीता 5.23

5. **ईश्वरार्पण**– ईश्वरार्पण अर्थात् ईश्वर की अनन्यभक्ति। परमभक्त अपने कर्मों को परमात्मा को समर्पित कर देता है। प्रयत्नशील व्यक्ति अपनी सफलता का श्रेय परमात्मा को देते हुए, अपने ऊपर उसकी अनुकम्पा या अनुग्रह स्वीकार कर सर्वथा अहंकार शून्य हो जाता है। योग दर्शन में इसे ईश्वरप्रणिधान कहा गया है। जब भक्त ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है, तब किसी भी कार्य में वह भक्त केवल निमित्तमात्र रह जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुन से कहते हैं कि यहाँ सेना में जितने भी योद्धा उपस्थित हैं, वे सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। इनके मरने में तू निमित्त मात्र बन जा–

"निमित्तमात्रं भव" (11.33)

6. **फल के प्रति कारणता भी नहीं मानना चाहिये**– ज्ञानी व्यक्ति यह जानता है कि देखना, सुनना हुआ, स्पर्श करना, सूंघना, भोजन करना, गमन करना, सोना, श्वास लेना, बोलना, त्याग करना और आंखों को खोलना और मूंदना आदि– ये सम्पूर्ण क्रियायें प्रकृति के गुणों द्वारा होता है। ध्यातव्य है कि प्रकृति, गुण, इन्द्रियाँ यह सब मूलतः एक ही है। प्रकृति मूल है, गुण प्रकृति का कार्य है। और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। सम्पूर्ण क्रियायें इन्द्रियों के द्वारा या गुणों के द्वारा या प्रकृति के द्वारा होती है। आत्मा कुछ नहीं करता है–

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यंश्रृण्वन्स्पृशंजिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन्।।गीता, 5.8

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।गीता, 5.9

इसी बात को दूसरे प्रकार से भी कहा गया है कि सम्पूर्ण कर्मोंके होने में "अधिष्ठान, कर्ता, पृथक–पृथक करण और विभिन्न चेष्टाएं तथा दैव" – ये पाँच हेतु होते हैं–

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।।गीता, 18.14

गीता, 18.15 में कहा गया है कि शरीर, वाणी और मन के द्वारा क्रियायें होती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भी क्रिया के सम्पादन में जीवात्मा का कोई स्थान नहीं है। सम्पूर्ण क्रियायें प्रकृति के द्वारा होती है। अतः कर्तृत्व मात्र प्रकृति में है, जीवात्मा में नहीं है। कार्य और करण के द्वारा होने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु होती है–

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।।गीता, 13.20

इस प्रकृति के साथ सम्बन्ध बना लेने के कारण पुरुष कर्ता बन जाता है। यदि पुरुष प्रकृति के साथ सम्बन्ध नहीं बनाता है तो वह कर्ता नहीं बनता है। इसीलिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि अनादि और निर्गुण होने से यह अविनाशी आत्मा शरीर में स्थित होकर भी न तो कर्म करता है और न उसके फल में लिप्त होता है–

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।गीता, 13.31

यहाँ 'न करोति न लिप्यते' का तात्पर्य है आत्मा में कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व नहीं है। अतः फल के प्रति आत्मा में कर्तृत्व नहीं मानना चाहिये। अतः मनुष्य जहां स्वयं को कर्ता नहीं मानता है, अपितु वहाँ अकर्तृत्व रहता है, वहाँ क्रियामात्र होती है, कर्म नहीं–

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति।।गीता, 13.29

फलतः फल के प्रति आत्मा में हेतुपन नहीं रहता है।

7. **अकर्मण्यता की अस्वीकृति**– गीता का कर्मयोग अकर्मण्यता की स्वीकृति नहीं देता है। मनुष्य प्रकृति के नियम से बंधा है। गीता दर्शन के अनुसार प्रकृति नामक तत्त्व त्रिगुणात्मक है। गुणों की एक परिभाषा यह भी है कि जो बांधता है, वही गुण है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् व्यक्ति को बांधने का कार्य करते हैं, अतः वह गुण हैं। पारमार्थिक रूप में आत्मा के अतिरिक्त सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व त्रिगुणों से संचालित होता है। आत्मा भी अहंकार के कारण इन त्रिगुणों के वश में होकर वह कर्म करने के लिये विवश रहती है–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।गीता, 3.5

जीवन धारण किये हुए जीव या प्राणी को कर्म करना ही पड़ता है। कर्म न करने से शरीरनिर्वाह सम्भव ही नहीं है–

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।गीता, 3.8

मनुष्य केवल उसी क्षण कर्म का त्याग कर सकता है, जब वह जीवन का त्याग कर मृत्यु को प्राप्त हो जाये। ज्ञातव्य है कि मृत्यु के पश्चात् भी कर्मफल का नाश नहीं होता है और यह संचित होने वाले राशि है, जिसका नाश तभी सम्भव है, जब जन्म–मरण का चक्र सदा के लिये रुक जाये। व्यक्ति ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों से सम्पर्क स्थापित करता है। अतः यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक किसीप्रकार से इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण नहीं करने में सफल हो भी जाता है, तब भी वह कुछ समय के लिये केवल विषयमात्र से निवृत्त हो पाता है, परन्तु विषयों में रहने वाली मोह से वह निवृत्त नहीं हो पाता है। अन्ततः आसक्ति का नाश न होने के कारण प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ उस पुरुष के मन को पुनः हर लेती है। ऐसा व्यक्ति दम्भी या मिथ्याचारी कहलाता है। दम्भी व्यक्ति की विशेषता यह होती है कि वह समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोक लेता है, किन्तु वह मन से उन इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले विषयों का चिन्तन करता रहता है –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।गीता, 3.6

अतः कर्म से हठपूर्वकनिवृत्ति निरर्थक है। गीता में यह भी कहा गया है कि जो पुरुष सृष्टिचक्र के अनुकूल अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता है, उसका जीवन व्यर्थ है। वह इन्द्रियों के द्वारा विभिन्नप्रकार के भोग–विलास में मग्न रहता है और पापयुक्त जीवन जीता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।गीता, 3.16

अतः अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहिये, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्मों को किये बिना मनुष्य निष्कर्मता को प्राप्त नहीं हो सकता है अर्थात् किये गये कर्म ही अकर्म के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं। कर्म किये बिना मनुष्य योग पर आरुढनहीं हो सकता है क्योंकि कर्म करने से ही कर्मोंकी सिद्धि–असिद्धि, फल की प्राप्ति–अप्राप्ति में समता आती है। इसप्रकार कर्मोंका त्याग करने की अपेक्षा आसक्तिरहित होकर कर्म करने वाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है–कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते (3.7)। कारण यह है कि आसक्तिरहित होकर कर्म करना योग प्राप्ति का साधन है। जबकि कर्मों का त्याग करने से सिद्धि की प्राप्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है–

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।गीता, 3.4

अतः निष्कर्ष निकला कि जो मनुष्य कर्मयोग में कुशल हो जाता है, उसका अन्तःकरण स्थिर एवं स्वाधीन हो जाता है और वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बन जाता है। उसकी बुद्धि निश्चयात्मिक हो जाती है। निष्काम कर्म का पालन करने वाले व्यक्ति अपने सारे कर्तव्यों का निर्वाह करते हैं, फिर भी किसी भी प्रकार के फल के बन्धन से नहीं बंधते हैं। ऐसे मोहरहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ पापों को प्राप्त नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।गीता, 4.21

इसे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती है, अतः जो भी वस्तु स्वाभाविक रूप से प्राप्त होती है, वह उस पदार्थ में सदा सन्तुष्ट रहता है। किसी भी प्रकार की ईर्ष्या का भी सर्वथा अभाव हो जाता है। वह हर्ष, शोक आदि द्वन्द्वों से सर्वथा अतीत हो जाता है–ऐसा सिद्धि और असिद्धि में सम रहने वाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बंधता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टोद्वन्द्वातीतोविमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।गीता, 4.22

ऐसे पुरुष को श्रेष्ठ कहते हैं, क्योंकि मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ वह समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।गीता, 3.7

ऐसा श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा वैसा ही आचरण करता है। वह जो कुछ प्रमाणित कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसी का अनुसरण करने लगते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।गीता, 3.21

लोकसंग्रह की दृष्टिकोण से भी निष्काम कर्म का महत्त्व है। राजा जनक जैसे महापुरुष जीवन्मुक्त अवस्था में रहते हुए लोकसंग्रह में प्रयत्नशील रहे हैं। जगत् का कल्याण करना निष्काम कर्मयोगी के जीवन का ध्येय रहता है। ईश्वर भी अपने भक्तों का कल्याण करने एवम् उनका मार्गदर्शन करने के लिये निष्काम कर्म के लिये प्रेरणा देते हैं। अवतार लेकर पृथ्वी पर अवतरित होकर यह मनुष्य के मार्गदर्शन के लिये निष्काम भाव से कर्म करते हैं। ईश्वरीय कर्म सम्पूर्ण मानवजाति के लिये एक आदर्श स्थापित करते हैं, जिसका पालन मनुष्य करता है। स्वयं श्रीकृष्ण अर्जुन को यह बात इसप्रकार समझाते हैं–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।गीता, 3.24

अतः ईश्वर और सिद्ध महापुरुष का कर्म सर्वथा निष्काम होने के कारण सर्वदा लोकसंग्रह का आदर्श प्रस्तुत करता है और अन्ततः निष्काम कर्मयोगी मोक्ष प्राप्त करके सदैव के लिये जीवनमरण के चक्र से मुक्ति पा लेता है।

अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित कर्म का सिद्धान्त 'लक्ष्यरहित कर्म का सिद्धान्त' नहीं है, अपितु निष्कामभाव से युक्त कर्म का सिद्धान्त है। कर्म का सिद्धान्त चेतन जगत् में कार्य करता है। निष्कामकर्म का सिद्धान्त कर्म–स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है। कर्ता की कर्म करने में स्वतन्त्रता होती है। कर्म करना है कि नहीं, यदि करना है, तो किसप्रकार का करना है– इत्यादि इसप्रकार का विवेकपूर्ण चुनाव कर्ता स्वयं कर सकता है। यह उसकी नियति का खेल नहीं है। मनुष्य स्वयं का स्वामी है। उसके पास सदैव विकल्प रहता है। विकल्प का

चुनाव उसके जीवन की दिशा का निर्धारण करता है। इसीलिये गीता का यह कथन सत्य है कि मनुष्य अपने आप ही अपना मित्र है और अपना शत्रु है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।गीता, 6.5

किन्तु मनुष्य की स्वतन्त्रता कर्म करने तक ही सीमित रहती है, इसके बाद फल को भोगने में उसकी स्वतन्त्रता नहीं रहती है, कर्मफल में उसकी परतन्त्रता हो जाती है। कृत कर्मानुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है। ऐसी परतन्त्रता से बचने के लिये निष्काम कर्म एक प्रमुख उपाय है। अतः कर्म करने के पश्चात् ईश्वरीय सत्ता के प्रति अपने कर्म को समर्पित कर देना चाहिए। निष्काम कर्म की पराकाष्ठा मनुष्य को परम पुरुषार्थ तक पहुँचने का मार्ग है। अतः यह सर्वश्रेष्ठ आचरण है, जिसका पालन करके व्यक्ति सदैव स्वस्थ, संतुलित एवं शान्तिमय जीवन व्यतीत करता है।

11.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में निष्काम कर्म के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। निष्काम कर्म कर्मयोग का दूसरा नाम है, जिसका उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया है। निष्काम कर्म आसक्ति से रहित होकर कर्म करने की विधि है, जिससे परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञानयोग से विपरीत यह कर्म का मार्ग है। आधुनिक चिन्तन पद्धति में निष्काम कर्म आत्मप्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय के रुप में स्वीकार किया जाता है। अतः इस अध्याय में भी आत्मप्रबन्धन को आधार बनाकर निष्काम कर्म के मुख्य तत्त्वबिन्दुओं पर विचार किया गया है। अतः मन, बुद्धि, जीवात्मा तथा परमात्मा ये चारों कर्मसिद्धान्त के अभिन्न अंग हैं। विभिन्न स्तरों पर इनके कार्यक्षेत्र तथा स्वरूप पर विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में आसक्ति अथवा संगता तथा अनासक्ति अथवा असंगता पर भी विचार किया गया है। आसक्ति सब प्रकार के बन्धनों का कारण बनती है। अनासक्ति बन्धन से मुक्ति का मुख्य कारण बनती है। अतः आसक्ति से मुक्ति एवम् अनासक्ति की प्राप्ति के उपाय यहां मुख्य चिन्तनीय विषय है। ईश्वरप्रणिधान, मन निग्रह, इन्द्रियनिग्रह, सहनशीलता का अभ्यास, त्याग की भावना आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिनका अभ्यास करते रहने से मोक्ष रूपी लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। निष्काम कर्म में अकर्मण्यता का अंशमात्र भी स्थान नहीं है। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है, आवश्यकता इतने मात्र की है, कर्म फलांकाक्षा अथवा किसी अन्य आसक्ति के बिना किया जाये। तभी वह मुक्ति का मार्ग होता है।

11.4 शब्दावली

ईश्वरप्रणिधान – ईश्वर की भक्ति
त्रिगुण – सत्व, रजस्, तमस
प्रकृति – सत्त्वरजस्तमस् की साम्यावस्था
जीवन्मुक्त – शरीर धारण किये हुए परम ज्ञान अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना
कर्मेन्दियां – पाणि, वाक्, पाद, पायु, उपस्थ
ज्ञानेन्द्रियां – चक्षु, जिह्वा, कर्ण, त्वचा, नासिका
लोकसंग्रह – लोक का कल्याण

जीवात्मा – अविद्या अथवा अज्ञान से उपहित आत्मा, जो जन्म एवं मरण के चक्र से आवृत्त हो

परमात्मा – ईश्वर, परम ब्रह्म

11.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहस, शारदा निकेतन, वाराणसी, 2011

उमाशंकर शर्मा ऋषि, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2014

जयदेव वेदालंकार, भारतीय दर्शन का इतिहास (मीमांसा, वेदान्त, भगवद्गीता, चार्वाक, बौद्ध और जैन), न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली,2012

Bhagavad Gita Bhasya of Sri Shankaracarya with text and English translation, Sri Ramkrishan Math, Madras, 2014

S. Radhakrishnanm, The Bhagavadgita, Harper Element, Delhi, 2011

Bhagavad Gita with the commentary of Sankaracarya, translated by Swami Gambhirananda, Advaita Ashram, Kolkata, 2001

श्री अरविन्द, गीताप्रबन्ध, श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 2011

श्रीमद्गवद्गीता शांकरभाष्य हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2015

11.6 अभ्यास प्रश्न

1. निष्काम कर्म का स्वरूप समझायें।
2. कर्म अकर्म के रुप में कैसे परिवर्तित होता है?
3. कर्मयोग शब्द का अर्थ समझायें।
4. कर्मयोग में त्याग की भावना का महत्त्व समझायें।
5. कर्मयोग में समता का महत्त्व समझायें।
6. स्थितप्रज्ञ के लक्षण समझायें।

इकाई 12 गीता में कर्मयोग की प्रशंसा

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 गीता में कर्मयोग की प्रशंसा से सम्बन्धित श्लोकों का अनुवाद एवं व्याख्या

12.3 सारांश

12.4 शब्दावली

12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.6 अभ्यास प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- गीता के द्वितीय अध्याय तथा तृतीय अध्याय के कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकों का अर्थ तथा भावार्थ समझ पायेंगे। इन श्लोकों के द्वारा निष्काम कर्म के स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी।

12.1 प्रस्तावना

निष्काम कर्म के सिद्धान्त को ग्राह्य करने के लिये श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिये गये श्लोकबद्ध उपदेशों का अध्ययन करना आवश्यक है। गीता का द्वितीय अध्याय तथा तृतीय अध्याय विशेष रूप से इस प्रसंग में आवश्यक हैं। अतः प्रस्तुत ईकाई में गीता के उपरोक्त कथित अध्यायों के महत्त्वपूर्ण तथा प्रासंगिक श्लोकों का अनुवाद तथा व्याख्या किया गया है।

12.2 गीता में कर्मयोग की प्रशंसा से सम्बन्धित श्लोकों का अनुवाद एवं व्याख्या

1. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।2.14

अन्वय – कौन्तेय मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः आगमापायिनः अनित्याः, भारत! तान् तितिक्षस्व।

अनुवाद – हे कौन्तेय! शीतोष्णादि सुख–दुख प्रदान करने वाले इन्द्रियों तथा विषयों का संयोग तो उत्पत्ति–विनाशशील और अनित्य है। अतएव हे भारत! उन सारे अनित्य भावों को सहन करो।

व्याख्या – जिनके द्वारा विषयों का मान अर्थात् ज्ञान होता है, वे मात्रा या इन्द्रिय कहलाते हैं। जब मात्राओं अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होता है, तो वह सुख–दुख का कारण होते हैं। अतः सारे विषय जैसे शीत और ऊष्ण सुख और दुख

देने वाले होते है, कारण यह है कि ये भी इन्द्रियों के माध्यम से ही उत्पन्न होते हैं। वास्तव में इन्द्रियाँ तथा इनसे प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के विषय उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं क्योंकि ये स्वभावतः अनित्य है। अतः चाहे सुख हो या दुख हो सभी में समभाव रहना चाहिये। न तो सुख में अत्यधिक प्रसन्न होना चाहिये और न ही दुख में अत्यन्त अधीर होना चाहिये। इनको समान दृष्टि से सहन करने का अभ्यास करना चाहिये। इनमें हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिये।

2. यं हि न व्यथयन्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।2.15

अन्वय – पुरुषर्षभ! एते यं समदुःखसुखं धीरं पुरुषं न व्यथयन्ति सः हि अमृतत्वाय कल्पते।

अनुवाद – हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख–दुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रियों तथा विषयों के सम्बन्ध व्यथित नहीं करते हैं, वही अमृत–प्राप्ति के लिये समर्थ होता है।

व्याख्या – अष्ट पुरों में जो निवास करता है, वही पुरुष है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार, "स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्ष्युरिशयः।" इनके अनुसार, कर्मेन्द्रियाँ – वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ – श्रोत्र, चक्षु, नासिका, जिह्वा, त्वक् एवम् अन्तःकरण – मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त तथा पाँच प्राण – प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान तथा पाँच भूत – क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, काम, कर्म, तम या अविद्या – इन अष्ट पुरों में जो निवास करता है, वही पुरुष है। श्रीकृष्ण पुरुषों में श्रेष्ठ पुरुष अर्जुन को धीर व्यक्ति का लक्षण समझाते हैं कि सुख–दुख देने वाले इन्द्रिय और विषयों का सम्बन्ध जिस पुरुष को कभी भी व्यथित नहीं करते हैं तथा सुख–दुख में उसकी दृष्टि समान रहती है। वह हर्ष और विषाद दोनों से रहित हो जाता है। वह नित्य रूप से आत्मदर्शन से युक्त रहता है। उसी साधक को धीर पुरुष कहा जाता है तथा धीर पुरुष ही मोक्षप्राप्ति के योग्य होता है।

3. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।2.16

अन्वय – असतः भावः न विद्यते सतः अभावः न विद्यते। तत्त्वदर्शिभिः तु अनयोःउभयोःअपि अन्तः दृष्टः।

अनुवाद – असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती है। सत् पदार्थ का अभाव या नाश नहीं होता है। तत्त्वदर्शियों ने इन दोनो ही का अन्तःस्वरूप देखा है।

व्याख्या – जो देश, काल से परिच्छिन्न होता है, वह असत् होता है। जो त्रिकालातीत अर्थात् देश, काल से परे होता है, वह सत् है। असत् अनात्म है। शीतोष्णादि भी असत् पदार्थ हैं, अतः इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। प्रमाणों के द्वारा इनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है। वास्तव में ये सब विकार हैं और विकार सदैव बदलता रहता है। अपनी उत्पत्ति से पूर्व और अपने नाश के पश्चात् इन सबकी उपलब्धि नहीं होती है। इसके विपरीत सत् वस्तु 'आत्मा' का कभी भी अभाव नहीं होता है। इसका कभी भी किसी भी देश–काल में नाश नहीं होता है। वह सर्वत्र अनुगत रहता है। इस अविनाशी ब्रह्म का कोई नाश नहीं कर सकता है। वह स्वयं से भी अपने आपको नष्ट नहीं कर सकता है। सत्–असत्, आत्मा–अनात्मा इन दोनों का तत्त्वदर्शियों द्वारा प्रत्यक्ष किया

जा चुका है। इन तत्त्वदर्शियों की बुद्धि का आश्रय लेकर शोक और मोह का त्याग करके तथा शीतोष्ण आदि को विकार जानकर इनको सहन करने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये।

4. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2.20

अन्वय – अयं कदाचित् न जायते न म्रियते वा, अयं भूत्वा वा भूयः न भविता, अजः नित्य शाश्वतः, पुराणः शरीरे हन्यमाने न हन्यते।

अनुवाद –यह आत्मा किसी समय न उत्पन्न होता है, न मरता है। न कभी उत्पन्न होकर अस्तित्व को प्राप्त करता है। (क्योंकि यह आत्मा) जन्मरहित, नित्य, शाश्वत, पुराण है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी मारा नहीं जाता।

व्याख्या –जो कोई यह मानता है कि "मैं अमुक व्यक्ति को मारता हूं" या "मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊंगा" या "मेरी आत्मा पुनः जन्म लेगी", वह अज्ञानी वास्तव में आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है। ऐसा अज्ञानी स्वयं को कर्ता, भोक्ता, सुखी और दुखी मानता है क्योंकि वह आत्मतत्त्व को नहीं जान पाता है। आत्मा छह विकार – जन्म, अस्तित्व, परिणति, अपक्षय, विपरिणाम और नाश से रहित होता है। वह कूटस्थ, असंग, चिद्रूप होता है। वह अज होता है, अतः न कभी उत्पन्न होता है, न किसी के द्वारा मारा जाता है और न ही वह स्वयं जन्म लेता है। वह किसी भी प्रकार के विपरिणाम (परिवर्तन) का विषय नहीं बनता है। वह नित्य अर्थात् एकरूप है। वह सदा रहता है, अतः वह सनातन है। आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, शाश्वत, निष्क्रिय, शान्त, साक्षी, निर्गुण, निरवयव, अद्वितीय तथा ज्ञानस्वरूप है। छह प्रकार के भावविकारों से शरीर तथा लौकिक वस्तु का का सम्बन्ध होता है। जन्म, मृत्यु, परिणाम, क्षय आदि का सम्बन्ध पांचभौतिक शरीर से होता है। आत्मा से इनका सम्बन्ध नहीं रहता है।

5. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्तापो न शोषयति मारुतः।।2.23

अन्वय – शस्त्राणि एनं न छिन्दन्ति, पावक एनं न दहति, आपः एनं न क्लेदयन्ति, मारुतः च न शोषयति।

अनुवाद – न शस्त्र इस आत्मा का छेदन कर सकते हैं। अग्नि इसको जला नहीं सकता है, जल इसको भिगो नहीं सकता है और वायु इसको सुखा नहीं सकती है।

व्याख्या– इस श्लोक में भी आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार आत्मा का छेदन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा आकाशवत् निरवयव है, अतः जिसप्रकार अवयवयुक्त अवयवी जैसे वस्त्र का छेदन सम्भव है, उसप्रकार से निरवयवी आत्मा का छेदन सम्भव नहीं है। देह के समान निरवयव आत्मा को अग्नि को जलाया नहीं जा सकता है, क्योकि आत्मा दहनक्रिया का विषय नहीं है। जल के द्वारा आत्मा को गीला भी नहीं किया जा सकता है। वायु इसे शुष्क भी नहीं कर सकती है। आत्मा अविकारी है, ये सारी क्रियाएं शरीर में होती है। निरवयव आत्मा में छेदन, भेदन, दहन और शोषण नहीं हो सकते हैं।

6. नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।2.40

अन्वय– इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते। अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि महतः भयात् त्रायते।

अनुवाद–इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं होता और कोई पाप या दोष भी नहीं होता। इस कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा सा भी अनुष्ठान महाभय से रक्षा करता है।

व्याख्या–आरम्भ को अभिक्रम भी कहते हैं। यदि मनुष्य इस कर्मयोग का आरम्भ करके उसे बीच में छोड़ दे तो भी इस कर्मयोग के आरम्भ का नाश नहीं होता है, बल्कि इसके संस्कार अन्तःकरण में प्रतिष्ठित रह जाते हैं और अन्य जन्म में भी साधक को पुनः कर्मयोग में लगा देते हैं। इस कर्मयोग में कामना का भी अभाव रहता है, इसीलिये ये किसी भी प्रकार से विपरीत फल नहीं देता है। कर्मयोग का पालन करते रहने से महाभय से भी रक्षा होती है। जन्म और मृत्यु नामक महाभय से व्यक्ति की रक्षा होती है। अर्थात् जन्म और मृत्यु के चक्र से सदैव के लिये मुक्ति मिल जाती है।

7. व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। 2.41

अन्वय– कुरुनन्दन! इह व्यवसायित्मका बुद्धिः एका। हि अव्यवसायिनां बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताः च।

अनुवाद– हे अर्जुन! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है, किन्तु जो कर्मफल की इच्छावाले होते हैं, उनकी बुद्धियाँ अनेकशाखाओं वाली और अनन्त होती है।

व्याख्या– निष्काम कर्मयोग कल्याणमार्ग है, जिसमें कर्मयोगी ईश्वराराधनरूप कर्म करता है अर्थात् कर्मयोगी एकमात्र ईश्वर की ओर लक्ष्य करके कर्म करता है। ईश्वराराधनरूप कर्म में रत रहने वाले साधकों की बुद्धि एक होती है, और वह व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका होती है, क्योंकि एकमात्र लक्ष्य में स्थित रहती है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का भी ज्ञान उसे होता है। किन्तु कर्म फल में आसक्ति रखने वाले अज्ञानियों की बुद्धि विवेकहीन होती है, सकाम भाव रखने के कारण बहुविषयिणी होती है, अतः वह अनेक शाखाओं वाली होती है और अनन्त होती है। अतः ऐसी बुद्धि वाला व्यक्ति कभी भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता है।

8. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।2.47

अन्वय– कर्मणि एव ते अधिकारः, फलेषु कदाचन मा। कर्मफलहेतुः मा भूः। अकर्मणि ये सङ्गः मा अस्तु।

अनुवाद– तुम्हारा अधिकार तो कर्म करने में ही है, उसके फलों को भोगने में कभी नहीं। इसलिये तुम कर्मफल के हेतु मत बनो और कर्मत्याग में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

व्याख्या– श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है। तुमको अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। कर्म से प्राप्त होने वाले फल में तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। कर्मफल की कामना के कारण कर्म करना उचित नहीं है क्योंकि जब मनुष्य कर्मफल की कामना से प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है, उस

स्थिति में कर्म का फल व्यक्ति के पुनर्जन्म का कारण बन जाता है तथा अन्य प्रकार के दुखों का भी कारण बन जाता है। अतः कर्म में आसक्ति नहीं होनी चाहिये। यह भी उचित नहीं है कि कर्म के फल की प्राप्ति की इच्छा न रहने पर कर्म का ही त्याग कर दें। हर परिस्थिति में कर्तव्य का पालन करना चाहिये। कर्तव्य का पालन न करना निन्दनीय है। अकर्मण्यता का इस सृष्टि में कोई स्थान नहीं है। निष्काम कर्मयोग निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा देता है। कर्म के त्याग का यहां कोई स्थान नहीं है।

9. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।। 2.48

अन्वय– धनंजय! योगस्थ सङ्ग त्यक्त्वा सिद्धयसिद्धयोः समः भूत्वा कर्माणि कुरु। समत्वं योगः उच्यते।

अनुवाद– हे धनंजय! योग में स्थित होकर आसक्ति का त्याग करके सिद्धि और असिद्धि में समभाव मे रहकर कर्म करो। समत्व को ही योग कहते हैं।

व्याख्या– धनंजय अर्जुन का ही नाम है। कृष्ण अर्जुन को धनंजय नाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि कर्मयोग का पालन करने वाला व्यक्ति जब कर्मों और उनके फलों में आसक्ति का त्याग कर देता है, तब उसमें राग–द्वेष और उनसे होने वाले हर्ष–शोकादि का अभाव हो जाता है। ऐसा होने पर वह सिद्धि और असिद्धि में सम हो जाता है। शंकराचार्य के अनुसार, फल और तृष्णा से शून्य होकर पुरुष के द्वारा कर्म किये जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि से उत्पन्न होने वाली ज्ञानप्राप्ति को सिद्धि कहते हैं और इससे विपरीत ज्ञानप्राप्ति का न होना असिद्धि कहलाता है। अतः सिद्धि और असिद्धि में सम होने को योग कहते हैं। योग में अवस्थित होकर ही कर्म करना चाहिये।

10. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।2.50

अन्वय– बुद्धियुक्तः इह उभे सुकृतदुष्कृते जहाति, तस्मात् योगाय युज्यस्व कर्मसु कौशलम् योगः।

अनुवाद– कर्मों में समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष ज्ञानप्राप्ति द्वारा पुण्य–पाप दोनों का परित्याग कर देता है, इसलिये तुम बुद्धि से युक्त योग के लिये प्रयत्न करो। कर्मों में समत्वरूप योग महान् कौशल है।

व्याख्या–कर्मों में बुद्धियुक्त अर्थात् समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष सत्त्वशुद्धि से उत्पन्न हुए ज्ञान की प्राप्ति द्वारा सुकृत–दुष्कृत अर्थात् पाप–पुण्य दोनों का ही परित्याग कर देता है और इसी लोक में कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। समत्वबुद्धि से युक्त कर्म के द्वारा दुष्कर्मों का अपने आप क्षय हो जाता है। अतः तुम समत्वबुद्धि के लिये प्रयत्नशील हो जाओ, क्योंकि कर्मों में समत्वबुद्धि से प्रवृत्त पुरुष का यह कौशल है। बन्धन के हेतुभूत होने पर भी कर्मों के बन्धन में न रहना और मोक्ष को प्राप्त हो जाना महान् कौशल का स्वरुप है। शंकराचार्य के अनुसार, कर्मों में समत्व रूप योग की कुशलता यही है कि स्वभाव से बन्धन उत्पन्न करने वाले भी समत्वबुद्धि के प्रभाव से अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं।

11. यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।2.52

अन्वय– यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गन्तासि।

अनुवाद– जब तुम्हारी बुद्धि अविवेकरूपी मालिन्य को अतिक्रमण करेगी, तब श्रोतव्य और श्रुत विषयों में वैराग्य प्राप्त करोगे।

व्याख्या– चित्त की शुद्धि होने पर विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है, श्रीकृष्ण यही बात अर्जुन को गीतोपदेश में यही समझाने का प्रयास कर रहे हैं। वैराग्य की प्राप्ति के लिये मोहकलिल का त्याग आवश्यक है। मोहकलिक का अर्थ है– मोहात्मक अविवेकरुपी कालुष्य। सत्य–असत्य के विवेक से शून्य होने पर अन्तःकरण मिथ्या विषयों में आसक्त रहता है, इष्ट और अनिष्ट तथा ग्राह्य–अग्राह्य में विवेकबुद्धि जाग्रत नहीं हो पाती है, व्यक्ति राग–द्वेष के वश में होकर क्रिया करता है, उस स्थिति को मोहकलिल कहा जाता है। विवेक का अभाव होना ही कालुष्य है। यह मोह मन की वासना है। ब्रह्मपद के इच्छुक जन देहात्मबुद्धि से सम्बन्धित मोह का त्याग कर देते हैं, उसी के पश्चात् आत्मज्ञान सम्भव हो पाता है। इस मोहकालुष्य को जब विवेकबुद्धि त्याग देती है, तब श्रोतव्य एवं श्रुत, द्रष्टव्य एवं दृष्ट, ज्ञातव्य एवं ज्ञात, ग्राह्य एवं गृहीत आदि देहात्मबुद्धि आदि विषयों में उसे वैराग्य प्राप्त हो जाता है।

12. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञ स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। 2.55

अन्वय– श्रीभगवान् उवाच। पार्थ! यदा आत्मनि आत्मना तुष्टः सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते।

अनुवाद– हे पार्थ। जब विद्वान् अपने मन की सभी कामानाओं को त्याग देता है तथा आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, उस समय में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

व्याख्या– इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताया गया है। इसके अनुसार जब व्यक्ति का मन विषयों में आसक्त रहता है, तब वह आत्मस्थिति से च्युत हो जाता है। जब जीव की काम संकल्पों से निवृत्ति हो जाती है, तब वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होना कहा गया है। अतः जब व्यक्ति मन में निवास करने वाली सम्पूर्ण कामनाओं एवं इच्छाओं का त्याग कर देता है तब आत्म–अनात्म में उसकी बुद्धि विवेकपूर्ण हो जाती है, परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि स्थित हो जाती है। इस लक्षण से युक्त व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सदैव अन्तरात्मस्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है और परमार्थ का दर्शन करके नित्य तृप्त रहता है। यह आनन्दमय अवस्था है। आनन्द आत्मा का स्वभाव है, अतः स्थितप्रज्ञ आत्मज्ञान प्राप्त करके सदैव आनन्दमय रहता है। इसके साथ ही, वह अनात्म पदार्थों में तृष्णारहित बुद्धि वाला होता है।

13. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। 2.62
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। 2.63
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।2.64

अन्वय–विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु सङ्गः उपाजायते, सङ्गात् कामः संजायते, कामात् क्रोधः अभिजायते ।2.62

क्रोधात् सम्मोहः भवति। सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।2.63

रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् विधेयात्मा अधिगन्छति ।2.64

अनुवाद– विषयों का ध्यान अथवा चिन्तन करते हुए उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। (विषयों में) आसक्ति से काम उत्पन्न होता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है। ।2.62

अनुवाद–क्रोध से सम्मोह होता है। सम्मोह से स्मृति भ्रंश हो जाता है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश होता है। बुद्धिनाश से नाश होता है।। 2.63

अनुवाद– किन्तु आत्मवश हुए रागद्वेष से रहित इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों का उपभोग करने वाला अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है ।2.64

व्याख्या– विषयों में बाह्य इन्द्रियों का संयम न करने पर जो दोष उत्पन्न होता है, इन तीनों श्लोकों में उसी का क्रमबद्ध रुप में वर्णन है। शब्दादि विषयों के भोग्यत्व का बारम्बार ध्यान करते रहने से उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। विषयों में आसक्ति उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप उन्हें प्राप्त करने के लिये इच्छा या कामना उत्पन्न होने लगती है और जब इच्छित विषयों को प्राप्त करने में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होती है, तो उस कारण क्रोध आता है और क्रोधित व्यक्ति दूसरे का अपकार करने के लिये उद्यत हो उठता है। क्रोधित व्यक्ति अपने गुरुजन पर आक्रोशित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध से मोह उत्पन्न होता है, करणीय एवं अकरणीय के मध्य विवेक समाप्त हो जाता है। इसप्रकार के मोह से स्मृतिविभ्रम हो जाता है। विवेक का अभाव हो जाने से शास्त्र और आचार्य के द्वारा उपदिष्ट विषयों में स्मृति का विचलन हो जाता है। फलतः उसके प्रकट होने का निमित्त उपस्थित होने पर भी वह प्रकट नहीं हो पाता है। इसप्रकार के स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है। इस कारण कार्य–अकार्यविषयक विवेक की योग्यता समाप्त हो जाती है। इसप्रकार बुद्धि के नाश होने से व्यक्ति स्वयं भी नष्ट हो जाता है। ज्ञातव्य है कि जबतक अन्तःकरण में कार्य–अकार्य का विवेक रहता है, तभी तक वह मनुष्य रहता है। वह सांसारिक मोह–बन्धन में फंसकर कभी इनसे मुक्त नहीं हो पाता है और वह पुरुषार्थ के योग्य नहीं रह जाता है।

14. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि। ।2.67

अन्वय– हि चरतां इन्द्रियाणां मनः यत् अनुविधियते, तत् अम्भसि वायुः नावं इव अस्य प्रज्ञां हरति।

अनुवाद– अपने–अपने विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से जिस इन्द्रिय को लक्ष्य करके मन प्रवृत्त होता है, वह इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को इसप्रकार हर लेती है, जैसे वायु जल में चलने वाली नाव को वहाँ ले जाती है।

व्याख्या– प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों के अपने–अपने विषय होते हैं जिनमें वह प्रवृत्त होते हैं। इन्हीं के माध्यम से मन भी उन विषयों में प्रवृत्त हो जाता है। इसप्रकार विषयों में संलग्न हुआ मन साधक की आत्म–अनात्मसम्बन्धी विवेक ज्ञान से उत्पन्न हुई बुद्धि को

हर लेता है अर्थात् उसे नष्ट कर देता है। इसको समझाने के लिये श्रीकृष्ण एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि जैसे जल में विचरण करने वाली नौका को तेज गति वाली वायु उसके गन्तव्य मार्ग से हटाकर विपरीत मार्ग पर ले जाती है, वैसे ही मन आत्मविषयक बुद्धि का हरण करके उस् बुद्धि को विषयविषयक बना देती है। परिणामस्वरूप उस अजितचित्त व्यक्ति को, जिसका मन उसके नियन्त्रण में नहीं है, विषयों के भोग में आसक्त कर देती है।

15. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।2.71

अन्वय– यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निस्पृहः निर्ममः निरहङ्कारः चरति, सः शान्तिं अधिगच्छति।

अनुवाद– जो पुरुष सारी कामनाओं का त्यागकरके स्पृहा से शून्य होकर ममतारहित (तथा) अहंकाररहित होकर विचरण करते हैं, वह शान्ति को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या– केवल ब्रह्म में अभिनिवेश से अन्ततः अज्ञान का नाश हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसकी विवेकबुद्धि के जाग्रत हो जाने से सारे प्रकार की इच्छाएँ समाप्त हो जाती है। प्राप्त एवं प्राप्तव्य विषयों में मोह समाप्त हो जाता है। उसका "मैं और मेरा" इसप्रकार का अहंकार समाप्त हो जाता है तथा सम्पूर्ण बाह्य विषयों को छोड़कर सर्वत्र ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाता है और उसे परमशान्ति मिल जाती है।

16. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। 2.72

अन्वय– पार्थ! एषा ब्राह्मी स्थितिः एनां प्राप्य न विमुह्यति, अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति।

अनुवाद– हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त करके कोई मोह को प्राप्त नहीं होता है। मृत्यु के समय में भी इसमें स्थित रहकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है।

व्याख्या– द्वितीय अध्याय के अन्तिम श्लोक में कृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म में रहना ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त हो जाने के पश्चात् फिर अज्ञान में पड़ने की किसी भी प्रकार की कोई सम्भावना नहीं रह जाती है। इस निष्ठा में रहने वाला पुनः कभी भी देह धारण नहीं करता है। शोक–मोह–आसक्ति इसप्रकार का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। मुमुक्षु सदैव के लिये ब्रह्म में लीन हो जाता है। सदा के लिये द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। इस प्रकार अन्तिम अवस्था में इस निष्ठा में प्रतिष्ठित होकर मुमुक्षु ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वह नित्य एवं आनन्दैकरस ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, यही ब्रह्मनिर्वाण है।

17. लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। 3.3

अन्वय– श्रीभगवान् उवाच–अनघ! अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनां।

अनुवाद– हे अनघ! इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा कही गयी है। (इनमें से) सांख्ययोगियों की निष्ठा ज्ञानयोग के द्वारा तथा कर्मयोग के द्वारा (कर्म) योगियों की निष्ठा कही गयी है।

व्याख्या– श्रीकृष्ण द्विविध निष्ठा का स्वरूप का यहाँ परिगणन कर रहे हैं– ज्ञानयोग तथा कर्मयोग। ये दोनों ही मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य आश्रम में ही सन्यास ग्रहण कर लिया है तथा आत्म–अनात्मा के विवेकजन्य ज्ञान को प्राप्त कर लिया है तथा जो निरन्तर ब्रह्म में स्थित हैं, वह सांख्ययोगी हैं तथा उनकी निष्ठा को ज्ञानयोग कहते हैं। द्वितीय निष्ठा कर्मयोग से सम्बन्धित है, जिसका पालन एक गृहस्थ व्यक्ति भी कर सकता है। कर्मयोग से सम्बन्धित निष्ठा कर्मयोगियों की है। यह दोनों ही निष्ठा मनुष्यों की क्षमता तथा रुचि के अनुसार बतायी गयी है।

18. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। 3.5

अन्वय– हि कश्चित् जातु क्षणम् अपि अकर्मकृत् न तिष्ठति, हि प्रकृतिजैः गुणैः अवशः सर्वः कर्म कार्यते।

अनुवाद– निश्चित ही कोई किसी क्षण भी कर्म न करके नहीं रह सकता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी प्रकृति के गुणों से विवश होकर कुछ न कुछ करता ही रहता है।

व्याख्या– इस संसार में कोई भी प्राणी एक क्षण के लिये किसी भी अवस्था में कर्म किये बिना नहीं रह सकता है। इसका कारण यह है कि सभी प्राणीवर्ग प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व गुण, रजो गुण तथा तमो गुण के वश मे होकर कर्म करने के लिये बाध्य होते हैं। अतः प्राणी स्वाधीन न होकर पराधीन है। जाग्रत् अवस्था हो या स्वप्नावस्था, त्रिविध गुणों के कारण प्राणि प्रत्येक क्षण सक्रिय रहता है। उदाहरण के लिये, श्वास लेना भी एक क्रिया है, प्राणी जबतक जीवित है, तबतक वह श्वास लेता ही है। क्रिया की अभिव्यक्ति मानसिक, वाचिक तथा कायिक रुप से होती है। अतः स्थूल रूप में भले ही क्रिया की अभिव्यक्ति न हो रही हो, किन्तु सूक्ष्मरूप में क्रिया होती रहती है। अतः क्रिया प्रकृति का कार्यक्षेत्र में आता है, न कि तुच्छ प्राणी के अन्तर्गत आता है। अतः ज्ञानी, अज्ञानी अथवा विद्वान् प्रत्येक जीवित व्यक्ति क्रिया करने को बाध्य है।

19. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। 3.6

अन्वय– यः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते। विमूढात्मा सः मिथ्याचारः उच्यते।

अनुवाद– जो कर्मेन्द्रियों को संयत करके मन के द्वारा इन्द्रियों के विषयों को याद करते हुए रहता है, मूढबुद्धि वह मिथ्याचार कहलाता है।

व्याख्या– कर्म का त्याग करने वाले निन्दनीय हैं। किसी प्रकार से बलात् वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ नामक पांच कर्मेन्द्रियों को निगृहीत करके जो व्यक्ति मन से विषयों में आसक्त रहता है, वह मूढ बुद्धि है तथा उसे मिथ्याचारी कहते हैं। अनात्मवस्तु मिथ्या है। बलात् स्वाभाविक रूप से होने वाली क्रिया को जो कोई रोकने का प्रयास करता है, किन्तु भीतर से उस विषय का मोह नहीं त्याग पाता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है। उसके इसप्रकार के बाह्य आडम्बर की कोई उपादेयता नहीं है। बिना मन को संयमित किये कर्मेन्द्रियों का संयम निष्फल है। यह यथार्थ में कर्मत्याग नहीं कहलाता है। इससे किसी भी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता है, ब्रह्मलाभ तो अशोचनीय है।

20. यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। 3.7

अन्वय– अर्जुन! यः तु मनसा इन्द्रियाणि नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं आरभते, सः विशिष्यते।

अनुवाद– हे अर्जुन! परन्तु जो मन के द्वारा इन्द्रियों का संयत करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करते हैं, वह श्रेष्ठ कहलाते हैं।

व्याख्या– मिथ्याचार के विपरीत जो व्यक्ति क्रम से मन के द्वारा सारी ज्ञानेन्द्रियों का संयम करता है, तत्पश्चात् कर्मेन्द्रियों को नियमित करता है, वही योगी श्रेष्ठ कहलाता है। इसी स्थिति में कर्मयोग सम्भव हो पाता है, आशय यह है कि ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां स्वाभाविक रूप से जीवनपर्यन्त कर्मों का सम्पादन करती हैं, किन्तु योगी उन कर्मों तथा उनसे सम्बन्धित विषयों में बिना आसक्त होकर रहता है, क्रिया से प्राप्त होने वाले फल की कोई आकांक्षा नहीं करता है, वही योगी श्रेष्ठ कहलाता है। अतः कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।

21. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।। 3.19

अन्वय– तस्मात् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर, हि पूरुषः असक्तः कर्म आचरन् परम आप्नोति।

अनुवाद– इसलिए आसक्तिशून्य होकर सर्वदा कर्तव्य कर्म को सम्पादन करो। क्योंकि मनुष्य आसक्तिशून्य होकर कर्म करने पर परमपद को प्राप्त करता है।

व्याख्या– बिना आसक्ति के किये हुए कर्मों से पुण्य–अपुण्य रूप में कोई फल प्राप्त नहीं होता है। कर्म न करने से भी प्रत्यवाय नहीं होता। मुक्त पुरुष का स्वयं के लिये कोई प्रयोजन नहीं रहता है। उसमें लेशमात्र का भी अहंकार नहीं रहता है। यह अवस्था आत्मज्ञान की अवस्था है। अतः आसक्तिशून्य से रहित होकर कर्म करने वाले व्यक्ति को किसी भी प्रकार का फल प्राप्ति की सम्भावना नहीं रह जाती है तथा उसे ब्रह्मप्राप्ति हो जाती है। अतः निष्काम भाव से किये गये कर्म से अव्यय परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

22. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम।। 3.25

अन्वय– भारत! कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति, विद्वान् असक्तः लोकसंग्रहं चिकीर्षुः तथा कुर्यात्।

अनुवाद– हे भारत! कर्म में आसक्त अज्ञानी मनुष्य जिसप्रकार के कर्म करते हैं, विद्वान् भी अनासक्त होकर लोकसंग्रह की इच्छा से उसीप्रकार कर्म करता है।

व्याख्या– नियत रूप से कर्म करना सृष्टि में उपस्थित प्रत्येक प्राणी के द्वार अपरिहार्य है। किन्तु सकाम भाव से कर्म करने वाले व्यक्ति के कर्म का स्वार्थ होता है। स्वार्थवश सकामी व्यक्ति कर्मों का सम्पादन विभिन्नप्रकार के सुखोपभोग की प्राप्ति करने के उद्देश्य से करता है, जिसके कारण पुण्य–अपुण्य, सुख–दुख रूप में फल भोगना पड़ता है। अज्ञानी के समान आत्मज्ञ भी कर्म का सम्पादन करता है, किन्तु वह स्वार्थ भाव से

प्रेरित होकर नहीं अपितु निःस्वार्थ भाव से लोक के कल्याण के लिये कर्म करता है। ऐसा करने से आत्मज्ञ स्वयं भी तर जाता है तथा लोक का भी कल्याण हो जाता है।

23. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।।3.27

अन्वय– प्रकृतेः गुणैः सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि अहंकारविमूढात्मा अहं कर्ता इति मन्यते।

अनुवाद– प्रकृति के गुणों द्वारा सब प्रकार के लौकिक या शास्त्रीय कर्म सम्पन्न होते हैं, किन्तु अहंकार से विमूढचित्त पुरुष मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानते हैं।

व्याख्या– सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। समस्त क्रिया प्रकृति के द्वारा ही सम्पादित होते हैं, चाहे वह लौकिक क्रिया हो या शास्त्र सम्बन्धी। आत्मा किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं है। चेतन आत्मा स्वभावतः निष्क्रिय है। अहंकारवशात् देहाभिमानी पुरुष स्वयं को कर्ता मानने लगता है। देह, इन्द्रिय आदि में अहंकार से विमोहित होकर मैं कर्ता हूँ, द्रष्टा हूँ, श्रोता हूँ, भोक्ता हूँ इत्यादि इसप्रकार से कर्तृत्त्वभाव का स्वयं में आरोपण करने लगता है। अतः वह विमूढचित्त वाला पुरुष है।

24. मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।3.30

अन्वय–अध्यात्मचेतसा मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्य निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा युध्यस्व।

अनुवाद– अध्यात्मचित्त द्वारा मुझमें सारे कर्मों को समर्पण करके निष्काम, ममताशून्य, त्यक्तशोक होकर युद्ध करो।

व्याख्या– तत्त्वज्ञानी के कर्म का स्वरूप इसप्रकार का होता है–

1. वह अध्यात्मचित्त होकर कर्म करता है।
2. ईश्वर को सारे कर्म समर्पित करके कर्म करता है।
3. निष्काम होकर कर्म करता है।
4. वह निराशी अर्थात् फल के प्रति आशारहित कर्म करता है।
5. उसका निर्मम अर्थात् 'ममभाव" समाप्त हो चुका रहता है।

इसप्रकार से इन छहों विशेषताओं से युक्त होकर कर्म करना चाहिये। ऐसे भाव से कर्म करने वाले कर्मयोगी सदैव के लिये मुक्त हो जाते हैं और जो इससे विपरीत आचरण करने वाले हैं, वह सदैव दुखी रहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में अध्यात्मचित्त का आशय है कि चित्त आत्मा में संस्थापित है। चित्त विषयों में नहीं प्रवृत्त होता है, अपितु ब्रह्मार्पित होता है। अतः वह किसी भी आसक्ति से रहित होकर कर्म करता है। उसमें मैं और मेरा ऐसा भाव समाप्त हो जाता है।

12.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में उन श्लोकों का अनुवाद, अन्वय तथा व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, जो कर्मयोग के सिद्धान्त को साक्षात् आलोकित करते हैं। स्थितप्रज्ञ का लक्षण, आत्मा का वास्तविक स्वरूप, उसकी नित्यता, कर्म का स्वरूप, मोह, लोह, क्रोधादि का

विनाशकारी परिणाम इत्यादि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर यहां प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्राणधारी किस प्रकार से अहंकारमात्र से युक्त होकर कर्तृत्व की भावना से ओतप्रोत हो जाता है, उससे सम्बन्धित श्लोक भी यहां दिया गया है। एक कर्मयोगी किसप्रकार ब्राह्मीस्थिति के योग्य बन पाता है, इन श्लोकों से यह भी स्पष्ट हो जाता है।

12.4 शब्दावली

अमृत – **मोक्ष**

सत् – **जिसकी सत्ता अथवा अस्तित्व है।**

असत् – **जिसकी सत्ता अथवा अस्तित्व नही है।**

पावक – **अग्नि**

मारुत – **वायु**

व्यवसायात्मक – **निश्चयात्मक**

सङ्ग – **आसक्ति**

अकर्मकृत – **बिना कर्म किये हुए**

12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहस, शारदा निकेतन, वाराणसी 2011

उमाशंकर शर्मा ऋषि, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी 2014

जयदेव वेदालंकार, भारतीय दर्शन का इतिहास (मीमांसा, वेदान्त, भगवद्गीता, चार्वाक, बौद्ध और जैन), न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली 2012

S. Radhakrishnan, The Bhagavadgita, Harper Element, Delhi, 2011

Bhagavad Gita with the commentary of Sankaracarya, translated by Swami Gambhirananda, Advaita Ashram, Kolkata, 2001

श्री अरविन्द, गीताप्रबन्ध, श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 2011

श्रीमद्गवद्गीता शांकरभाष्य हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2015

12.6 अभ्यास प्रश्न

1. सिद्धि–असिद्धि क्या है?
2. कर्म में कुशलता क्या है?
3. बुद्धि का स्वभाव बतायें।
4. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' पंक्ति की व्याख्या करे।
5. ब्राह्मी स्थिति का स्वरूप समझायें।
6. गीता के अनुसार, श्रेष्ठ पुरुष के क्या लक्षण हैं?

इकाई 13 भारतीय संस्कृति में निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा के उद्धरण

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 भारतीय संस्कृति में निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा के उद्धरण

13.3 सारांश

13.4 शब्दावली

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.6 अभ्यास प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में उल्लिखित उद्धरणों को देखने के पश्चात् आप –

- भारतीय शास्त्रों में उल्लिखित कर्मयोग की प्रशंसापरक वाक्यों/पंक्तियों से परिचित हो पायेगें तथा सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में कर्मयोग की महत्ता को समझ पायेंगे।
- इन उद्धरणों को पढ़कर आप यह समझ पायेंगे कि गृहस्थ व्यक्ति के लिये कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म आत्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग है। कर्मयोग का पालन करने वाला व्यक्ति अपने दुःखों तथा कष्टों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है।

13.1 प्रस्तावना

निष्काम कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन मात्र श्रीमद्भगवतगीता तक ही सीमित नहीं है, अपितु सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान परम्परा के ग्रन्थों में प्रसंगानुसार निष्काम कर्मयोग के प्रशंसापरक उद्धरण लिखे गये हैं। ज्ञानवर्धन के लिये कुछ प्रमुख उद्धरण सम्बन्धी पंक्तियाँ इस इकाई में दिये जा रहे हैं।

13.2 भारतीय संस्कृति में निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा के उद्धरण

1. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन स्योनिः...। ऋग्वेद, 1.164.38

अर्थ–जीवात्मा अपने कर्मों से बद्ध होकर अत्यन्त नीच गति और अत्यन्त नीच योनियों को प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट गति को और योनि को प्राप्त होता है।

2. निण्यः सन्नध्दो मनसा चरामि। ऋग्वेद, 1.164.37

अर्थ – अज्ञात कर्मफल से बद्ध मनुष्य मन के अनुसार कर्म करता है।

3. अद्य जीवन्ति मा श्वः। अथर्ववेद, 5.18.2

अर्थ – पापी आज जीवित है, कल नहीं रहेगा।

4. कुर्वन् एवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ईशावास्योपनिषद्, 2

अर्थ – इस लोक में रहते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये। इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है। ऐसा करने से तुम कर्म में लिप्त नहीं होगे।

5. अघमस्तु अघकृते, शपथः शपथीयते। अथर्ववेद, 10.1.5

अर्थ – पाप कर्म करने वाले को पाप लगता है तथा कुवचन कहने वाले को कुवचन सम्बन्धी दण्ड भुगतना पड़ता है।

6. न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। अथर्ववेद, 4.16.4.5

अर्थ – अथर्ववेद में वरुण देवता के विषय में कथन है कि वरुण देवता के दूत सारे संसार में फैले हुए हैं। संसार में जो कुछ हो रहा है, उसको वह देख रहा है। मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, वह सबकुछ देखता है। उसके नियम अत्यन्त कठोर हैं। उनको कोई तोड़ नहीं सकता है। उसके तीन प्रकार के पाश हैं – सत्त्व, रजस् और तमस्। इन्हीं पाशों से सबको बांधकर रखता है। सत्यवादी और सत्कर्मी इन पाशों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और असत्यवादी को कठोर दण्ड भुगतना पडता है।

7. नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति। नीतिशतक, 94

अर्थ – कर्म सबसे बड़ी शक्ति है। परमात्मा भी कर्म–विधान को नही तोड़ सकता है। जो जैसा करेगा, उसको वैसा फल भोगना पड़ेगा।

8. कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते। नैषधीयचरितम्, 5.6

अर्थ – किसको अपने कर्मोंका फल भोगना नहीं पड़ता।

9. पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्तैः।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति। समयसारः, 5.168

अर्थ – जैसे पका हुआ फल डाली से गिर जाने पर पुनः पुनः डाली से नही बांधा जा सकता है, उसी प्रकार जब जीव के समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है तो फिर उसे कर्मों के बन्धन में नहीं डाला जा सकता है।

10. सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
सर्वाणि दुःखेषु तथोद्विजन्ति।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः
कुर्यान्न कर्माणि हि जातवेदः।।योगवार्तिकम्, 2.34

अर्थ – समस्त प्राणी सुख में रमण करते हैं और सभी दुखों में उद्विग्न होते हैं। इसलिये कर्मों के सम्पादन में कष्ट का अनुभव कर चुके विद्वान् पुरुष को कर्म नहीं करना चाहिये।

11. बुद्धिपूर्वं कृतं कर्म भोगेनैव विनश्यति। पद्मपुराण, 5.6.25

अर्थ – बुद्धिपूर्वक किया गया कर्म कर्मफल भोगने पर ही नष्ट होता है।

12. फलं हि साधनायत्तं हेतुः फलवशोन तु। पद्मपुराण, 5.66.66

अर्थ – कर्मफल साधनों के अधीन होता है। परन्तु कारण फल के वश में नहीं होता।

13. विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्। श्रीमद्भागवत पुराण, 10.24.6

अर्थ –ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाले पुरुषों के कर्म जैसे सफल होते हैं, वैसे अज्ञानी के नहीं।

14. सिद्धयसिद्धयोः समं कुर्याद् दैवं हि फलसाधनम्।

श्रीमद्भागवत पुराण, 10.36.38

अर्थ – मनुष्य को सफलता और असफलता, दोनों के प्रति समभाव रखकर अपना काम करना चाहिये क्योंकि फल दैवी प्रेरणा से मिलते हैं।

15. कर्मणां परिणामित्वादविरिंचादमङ्गलम्।

विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्।। श्रीमद्भागवतपुराण, 11.11.18

अर्थ– विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह स्वर्गादि फल देने वाले यज्ञादि कर्मों के परिणामी अदृष्ट को भी इस प्रत्यक्ष विषय–सुखको भी इस प्रत्यक्ष विषय–सुख के समान ही अमंगल, दुखदायी और नाशवान् समझे।

16. शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः।।मनुस्मृति, 12.3

अर्थ– मनुष्य के मन, वाणी तथा शरीर से उत्पन्न कर्म शुभ तथा अशुभ फल देने वाले होते हैं तथा इन कर्मों से उत्पन्न गतियाँ उत्तम, अधम तथा मध्यम होती हैं।

17. त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ सुसंयम्य ततः सिद्धिं निगच्छति।।मनुस्मृति, 12.11

अर्थ– मनुष्य सब जीवोंके प्रति इस त्रिदण्ड को त्यागकर काम और क्रोध पर संयम कर लेता है, तब वह सफलता को प्राप्त करता है।

18. यदाचरित कल्याणि! शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
तदेव लभते भद्रे! कर्ता कर्मजमात्मनः।।वाल्मीकि रामायण, 2.63.6

अर्थ– मनुष्य जैसा भी कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। कर्ता को अपने कर्म का फल अवश्य मिलता है।

19. यथा धेनु सहस्त्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा यच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।।महाभारत, 13.7.22

अर्थ– जैसे हजारों गायों में भी बछडा अपनी माँ के पास जाता है, वैसे ही किया हुआ कर्म कर्ता का अनुगमन करता है।

20. आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः।।श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6.4

अर्थ– जो पुरुष सत्त्ववादी गुणमय कर्म आरम्भ कर उन्हें और समस्त भावों को परमात्मा को अर्पित कर देता है, उनके सम्बन्ध का अभाव हो जाने से उसके पूर्वकृत कर्मों का नाश हो जाता है और कर्मों का क्षय हो जाने पर वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह तत्त्वतः उन पृथिवी आदि से अन्य है।

21. अकुर्वतः क्रियाः काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथा।
नित्यनैमित्तिकं कर्म विधिवच्चानुतिष्ठतः। नैष्कर्म्यसिद्धिः, 1.10

अर्थ– वेदादि में जिसे करना निषिद्ध है उसे तथा काम्य अथवा कामनयुक्त कर्म को न करते हुए जो मनुष्य उन कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करता है, उसकी मुक्ति हो जाती है।

13.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों से निष्काम कर्म सम्बन्धी प्रशंसापरक उद्धरण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। संस्कृत काव्य परम्परा, नीति काव्य, धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में निष्काम कर्म की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि निष्काम कर्म प्रत्येक मनुष्य की परिधि में आता है। इसका पालन करना भूपति से लेकर सामान्य मनुष्य तक के लिये सम्भव है।

13.4 शब्दावली

जीजिवेषेत्	–	जीने की इच्छा करता हुआ
वाग्(क्)	–	वाणी
निषिद्ध	–	जिसका निषेध (शास्त्रों में हो)
नित्य कर्म	–	ऐसे कर्म जिनका पालन करना आवश्यक है, किन्तु वह फल प्रदान नहीं करते हैं।
कृतकर्मनाश	–	किये गये कर्म (फल) का नाश

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bhagavad Gita Bhasya of Sri Shankaracarya with text and English translation, Sri Ramkrishan Math, Madras, 2014

S. Radhakrishnan, The Bhagavadgita, Harper Element, Delhi, 2011

Bhagavad Gita with the commentary of Sankaracarya, translated by Swami Gambhirananda, Advaita Ashram, Kolkata, 2001

श्रीमद्गवद्गीता शांकरभाष्य हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2015

ऋग्वेद संहिता, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2016

अथर्ववेद संहिता, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2019

ईशावास्योपनिषद्, विमला कर्नाटका, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2015

आचार्यभर्तृकृतशतकत्रयम्, ललित कुमार मण्डल, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2003

ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2010

पातंजलयोगदर्शनम्, परमहंस स्वामी अनन्तभारती, चौखम्भा ओरियन्टल, दिल्ली, 2018

महाभारत, पण्डितरामनारायणदत्तपाण्डेय, गीता प्रकाशन, गोरखपुर, 2018

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2011

मनुस्मृति, हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा कृष्णदास अकादेमी, वाराणसी, 2019

श्रीमद्भागवतपुराण, प्यारे लाल त्रिवेदी, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 2019

श्रीपद्मपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2018

योगवासिष्ठ्य, श्रीकृष्णपन्त शास्त्री, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2019

नैष्कर्म्यसिद्धि, सुरेश्वराचार्य, श्री दक्षिणामठ प्रकाशन, वाराणसी, 2019

13.6 अभ्यास प्रश्न

1. ईशावास्योपनिषद् के अनुसार निष्काम कर्म के विषय में संक्षेप में बताये।
2. श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार विवेकी व्यक्ति के विषय में लिखें।
3. श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार, कर्मों के नाश का फल क्या है?
4. मनुस्मृति के अनुसार, शुभ–अशुभ कर्मोंके विषय में प्रकाश डालें।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY